मूल्य : तीन रुपये

मुद्रक—इलाहाबाद प्रेस, त्रिवेणी रोड, इलाहाबाद

प्रकाशकीय वक्तव्य

हिंदी तथा मराठी साहित्य के विद्वान् डाक्टर हरि रामचंद्र दिवेकर, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस) की प्रस्तुत पुस्तक का प्रथम संस्करण १९३७ में प्रकाशित हुआ था। कुछ वर्षों से यह पुस्तक अप्राप्य थी। पुस्तक की निरंतर माँग रही है, अतएव अब इसका छोटे आकार में पुनर्मुद्रण हो रहा है।

प्रथम संस्करण का उपोद्घात

दुनिया दिन-ब-दिन बदलती ही नहीं, छोटी भी होती जाती है। अज्ञात देश तो क्या अज्ञात विषय भी हर रोज़ कम हो रहे हैं। एक समय वह था कि 'न वदेद्यावनीं भाषां न गच्छेज्जैनमंदिरम्' प्रकार के आदेश दिए जाते थे। अब ऐसा समय आ गया है कि—

चाहे जहाँ जाओ, करो चाहे तुम्हारा दिल वही।
ज्ञान को, संपत्ति को, आरोग्य को लाओ सही॥

इस अवस्था में हर एक भाषा का ज्ञान प्राप्त करना, हर देश में विचरण करना और उस भाषा तथा देश की संपत्ति को अपने घर ले आना पुरुषार्थ समझा जाता है। अपनी-अपनी भाषा के साथ अंग्रेज़ी तथा राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी का, तथा अपनी प्रांतीय संस्कृति के साथ पौर्वात्य राष्ट्रीय तथा पाश्चात्य विजातीय संस्कृति का ज्ञान आवश्यक हो रहा है। ज्ञान-प्राप्ति के साधन जो ग्रंथ माने जाते हैं उन में महापुरुषों के जीवन-वृत्तांत का स्थान ऊँचा है—वे महापुरुष संत हों या सूर, ग़रीब या अमीर। इस नाते से हिंदुस्तानी लोगों को महात्माओं के जीवन का ज्ञान होना आवश्यक है। इस छोटी-सी पुस्तिका में एक ऐसे ही महाराष्ट्रीय संत का जीवन-चरित्र दिया हुआ है।

सुख के दिनों में हम दूसरों को तथा परमेश्वर को भूल जाते हैं। परंतु जब दुःख आ पड़ता है, आपत्तियों के आघातों से हम ठुकराए जाते हैं, उसी समय हम सब को एक दूसरे की याद आती है, और उसी समय ईश्वर सूझने लगता है। परकीय साम्राज्य के अंतर्गत हिंदुस्तान में जिस एकता की आशा की जा रही है, वह कदापि न की जाती, यदि भारत अपनी प्राचीन पद्धति से ही स्वयं-शासित रहता। एक ही भाड़ में भुने हुए भिन्न-भिन्न भाँति के दाने जब एक ही चक्की के

पाटों में पीसे जाते हैं, तो वे अपना भेद-भाव छोड़ कर ऐसे एक जीव होते हैं कि उन में अपना-अपना स्वाद रहते भी एक नया स्वाद आ जाता है। भारत के इतिहास में ऐसे समय आए हैं, जब भारतीय परकीयों के वश हो कर गुलामी में गड़ गए थे। उन दिनों उन्हें केवल एक परमेश्वर का ही सहारा था। उसी के आधार से तत्कालीन महात्माओं ने फिर से देश में नया चैतन्य डाल कर पुनरुत्थान कर दिखाया। आज का समय भी वैसा ही है और इसी लिए ऐसे सब महात्माओं के चरित्र हमें अधिक स्फूर्ति दे सकते हैं तथा उचित मार्ग दिखला सकते हैं।

श्रीशंकराचार्य, ज्ञानेश्वर, जयदेव, कबीर, नानक, नरसीमेहता इत्यादि महात्मा लोग इसी श्रेणी के हैं। भगवद्भक्त तुकाराम जिन की जीवनी इस पुस्तक में लिखी है इसी कोटि के पुरुष थे। इन सब महात्माओं के जीवन भिन्न प्रकार के होते हुए भी एक ही प्रकार के थे। प्रांतीय परिस्थिति के कारण इन के प्रयत्न यद्यपि अलग-अलग दीख पड़ते हैं तथापि इन सबों के जीवन में एक सूत्र साधारण-सा जान पड़ता है। वह है जनता की सेवा करते हुए उन्हें जगाना और जगाते हुए भी जनता को इस का परिचय न कराना कि मैं तुम्हें जगा रहा हूँ', दीपक का काम अपने को जला कर अपने स्नेह को आहुति परोपकारार्थ देने का है। वह वेचारा यह नहीं विचार करता कि 'मेरा प्रकाश कितना पड़ेगा, और किस-किस कोने का अंधेरा उस से दूर होगा'। न वह ऐसी डींग मारता है कि 'देखो, मैं अंधेरा दूर करनेवाला हूँ, मेरी ही शरण लो तो अंधेरे से बचोगे, अन्यथा नहीं। खुद को जलाते ही उस ज्योति से जो चमक निकलती है, वही लोगों को उस का दिव्य जीवन दिखला देती है। ठीक इसी तरह महात्माओं के जीवन रहते हैं। उन के विशुद्ध आचरण को देखकर लोग स्वयं ही अपने को सुधारते हैं और अज्ञान-पथ को छोड़ सन्मार्ग से चलने लगते हैं। आज के दांभिक दिनों में इस बात का ज्ञान परमावश्यक है कि हमें जो कुछ

करना हो, वह हम शांति-पूर्वक दूसरों को न दुखाते हुए करें। यदि तुकाराम की जीवनी को पढ़ कर हम भारत-निवासी इस बात को भली-भाँति समझ लें, तो इस पुस्तक के लिखने का तथा प्रकाशित करने का हेतु कुछ तो सफल अवश्य ही हो जावेगा।

हरि रामचंद्र दिवेकर

विषय-सूची

प्रथम परिच्छेद : महाराष्ट्र भक्तिधर्म

ज्ञानराज ने ज्ञानबल डाली जो बुनियाद ।
नामदेव ने नामवश रचो भव्य प्रासाद ॥
एकनाथ ने एकता रंग दिया चहुँ ओर ।
उसी भक्तिपर धर्म का तुकाराम सिरमोर ॥

भक्ति की कल्पना बड़ी प्राचीन है । तन, मन, धन सब का अहंकार छोड़ पूर्णतया परमेश्वर की शरण में जाना यही इस का मुख्य मर्म है । कुछ वैदिक सूक्तों में—विशेषतः वसिष्ठ-कृत वरुणसूक्तों में इस की झलक भलीभाँति दिखाई देती है । उपनिषदों में तो यह कल्पना मूर्तस्वरूप पाकर 'भक्ति' इस नाम से भी ज्ञात है । गीता में ज्ञान और कर्म के साथ यह एक भगवत्प्राप्ति का तीसरा मार्ग ही माना गया है । किसी अर्वाचीन धर्म या धार्मिक पंथ को भी देखिए, उसमें भी किसी न किसी स्वरूप में भक्ति का दर्शन आप अवश्य पावेंगे ।

इस का कारण बिल्कुल साफ़ है । प्रेम की कल्पना प्राणिमात्र के हृदय में जन्म से ही पाई जाती है । माता प्रेम का आदर्श-स्वरूप है । इस माता से भी बढ़कर परमेश्वर प्रेममय है । एक बार यह कल्पना कर लेने के बाद फिर ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता कि उस परमेश्वर के पास पहुँचने के लिए मनुष्य को कुछ विशिष्ट प्रकार का ज्ञान होना चाहिए या कुछ विशिष्ट कर्मों का उसे आचरण करना चाहिए । यदि ज्ञान और कर्म यही केवल परमेश्वर प्राप्ति के दो मार्ग माने जावें, तो उन बेचारे जीवों को, जिन में न तो ज्ञान की सूक्ष्म बातें समझने योग्य बुद्धि है या न तो कर्म करने-योग्य सामर्थ्य है, कुछ सहारा ही न रहेगा । भक्ति-मार्ग के लिए न तो कर्म की आवश्यकता है, न ज्ञान की । यहाँ तो केवल अनन्य-भाव की अपेक्षा है । "मैं तो

किसी चीज़ के लायक़ नहीं हूँ, जन्म भर मैंने बुरे ही बुरे काम किए हैं, पतितों से भी मैं पतित हूँ," इतनी आत्मविषयक नीची कल्पना रहते हुए भी "परमेश्वर सत्यस्वरूप है, वह दयामय है, वह मेरा त्याग कदापि नहीं करेगा, वही मेरा बेड़ा पार लगावेगा, वही मेरे सब संकटों को हरण करेगा, वही मेरा उद्धार करेगा" यह श्रद्धा मन में उत्पन्न होना और उसी पर सब प्रकार से निर्भर रहना, भक्ति का अनन्य लक्षण है। इस दुःखमय संसार के कंटकमय पथ पर चलते-चलते जब जीव ऊब जाता है, अच्छा काम करते हुए भी जब उसे बुरा ही फल मिलता रहता है, किसी का भी उसे सहारा नहीं रहता, अहंकार पूरा-पूरा नष्ट हो जाता है, तब इस भक्ति-कल्पना के सिवाय उसे दूसरा कुछ सहारा नहीं रहता। उस समय इसी कल्पना से उसे विश्राम मिलता है और समाधान प्राप्त होता है। और यही कारण है कि केवल हर एक धर्म में ही नहीं, किंतु हर एक मनुष्य के जीवन में भी एक समय ऐसा आता है कि उसके मन में यह भक्ति-कल्पना अवश्य उद्भूत होती है। खासकर अन्य मार्गों के अनुयायी जब अपने ही आचारों का दूसरों पर अत्याचारयुक्त आक्रमण करते हैं, तब इस मार्ग से जानेवाले लोगों में एक प्रकार की आत्मिक सामर्थ्य पैदा होती है और भक्ति-मार्ग का नए-नए स्वरूप में उत्थान होता है।

इसी प्रकार का एक उत्थान ईसा की ग्यारहवीं सदी में महाराष्ट्र देश में हुआ। उस समय सब उत्तरी भारत ग़ज़नी के सुलतान महमूद के हमलों से परेशान था। हिंदुओं के पवित्र स्थानों पर आक्रमण होता था, देवालय तोड़े जाते थे, मूर्तियाँ फोड़ी जाती थीं और वहाँ की संपत्ति लुटी जाती थी। इस प्रकार से हिंदूधर्म के केवल बहिरंग पर ही महमदी धर्म का आक्रमण न होता था, किंतु उस के अंतरंग पर भी आघात होने लगे थे। सत्ताधीश धर्म-प्रसारक मुसलमान सुलतानों की अपेक्षा अपने धर्म की महत्ता दिखलानेवाले और अपनी कृतियों से लोगों के मन पर प्रभाव डालने वाले मुसलमान फ़क़ीरों के उपदेश से हिंदू

धर्म के विचारों में एक प्रकार की हलचल मच गई थी। परमेश्वर का स्वरूप एक ही है और उस के पैदा किए हुए सब इन्सान एक से हैं; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इत्यादि जाति-भेद मनुष्य-कृत और अतएव स्वार्थमूलक हैं, इत्यादि कल्पनाएँ लोगों के मन में दृढ़मूल होने लगी थीं और इस प्रकार से हिंदूधर्म के कुछ मूलभूत तत्वों पर ही चोटें पहुँचने लगी थीं। इन्हीं कारणों से भक्तिमार्ग का भारत भर में और विशेषतः महाराष्ट्र-देश में बड़े ज़ोर से उत्थान हुआ।

इस नए उत्थान के लिए अन्य प्रांतों की अपेक्षा महाराष्ट्र का क्षेत्र कई दृष्टियों से अधिक योग्य था। मुसलमान वीरों का आक्रमण उस समय केवल विंध्याद्रि के उत्तर में ही था। इसलिये उत्तरी भारत से भागे हुये लोग विंध्याद्रि को पार कर दक्षिण के हिंदू राजाओं का आश्रय लेते थे। दक्षिण और उत्तर हिंदुस्तान के बीच में होने से महाराष्ट्र देश में दोनों विभागों की अधिकताएँ नहीं थीं। इसलिए प्रायः सभी प्रकार के लोग यहाँ मिल-जुल कर रहते थे। मुसलमानी फ़क़ीरों की भी आमद-रफ़्त शुरू हो गई थी। भक्तिमार्ग का जो मुख्य स्थान उत्तरी भारत में समझा जाता था, उस मथुरा नगर पर भी महमूद का आक्रमण हो चुका था। हिंदू लोगों ने यह बात समझ ली थी कि उनके देवताओं में शत्रुओं का निवारण करने की सामर्थ्य नहीं है। और इसी कारण से हिंदूधर्म के भिन्न-भिन्न पंथों का संगठन करने के प्रयत्न भी होने लगे थे। बौद्धों के भगवान् बुद्ध को लोग श्रीकृष्ण का नया नवाँ अवतार समझने लगे थे। राक्षस तथा असुरों को अपने हाथों में आयुध धारण कर मारनेवाले देवताओं की मूर्तियों का भी रूपांतर धीरे-धीरे बुद्ध-समान निष्क्रिय हस्तों की देवता-मूर्तियों में हो रहा था। ऐसी संक्रमणावस्था में महाराष्ट्र की दक्षिण सीमा पर एक नया ही भक्ति-स्थान, एक नए ही देव के नाम से स्थापित हुआ। इस स्थान ने आज लगभग हज़ार वर्ष तक महाराष्ट्र के भावुक लोगों को आकर्षित किया है। भिन्न-भिन्न जाति के भक्त अपनी-अपनी जाति का अभिमान

छोड़, केवल भगवत्प्रेम में मगन होकर यहाँ नाचे हैं, नाचते हैं, और नाचते रहेंगे। बहुत क्या, पुराणों में वर्णित वैकुंठ को स्वर्ग से इन भगवद्भक्तों ने धरातल पर इसी स्थान के रूप में खींच लिया।

इस स्थान का नाम पंढरी या पंढरपुर, और जिस देवता का यहाँ जय-जयकार हुआ, उस देवता का नाम विट्ठल था। यह संस्कृत शब्द नहीं है। इसी से इस देवता का नावीन्य प्रतीत होता है। विट्ठल शब्द का अर्थ है 'ईंट पर खड़ा'। इस नाम के पड़ने का कारण यों बताया जाता है। पुंडलीक या पुंढरीक नाम का एक बड़ा मातृ-पितृ-भक्त ब्राह्मण भीम नदी के तीर पर रहता था। उस की इस मातृ-पितृ-भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान् श्रीकृष्ण मथुरा से उसके यहाँ अपना दर्शन देने के लिए पधारे। पर पुंडलीक को इस की परवाह क्या? वह अपने माता-पिता की सेवा करने में ही आसक्त था। जब उस से कहा गया कि 'भगवान् तुझे दर्शन देने आए हैं', तब उसने पास पड़ी हुई एक ईंट उठाई और भगवान् की ओर फेंक कर कहा—'महाराज, कृपा कर इस ईंट पर विश्राम कीजिए। मैं माता-पिता की सेवा कर रहा हूँ। यह खतम होते ही आप का पूजन और सत्कार करूँगा।' उस की इस मातृ-पितृ-भक्ति से तथा शुद्ध भाव से आश्चर्य-चकित हो, भगवान् श्रीकृष्ण अपने दोनों पैर जोड़ कर ईंट पर खड़े हुए और कमर पर दोनों हाथ धर उसकी ओर ताकते रहे। विट्ठल नाम का यही कारण है, और यही 'खड़ा ईंट पर हाथ कमर पर' विट्ठल-मूर्त्ति का स्वरूप है। पुंडरीक की भक्ति से इस प्रकार विट्ठल को नया अवतार हुआ। इस स्थान पर भीमा नदी का प्रवाह चंद्रमा की कोर-सा कमानदार होने के कारण उसका नाम चंद्रभागा पड़ा और उस स्थान पर जो गाँव बसा, उसे लोग पुंडरीकपुर कहने लगे। पंढरपुर या पंढरी इस पुंडरीकपुर का प्राकृत रूप है।

बहुत ही थोड़े दिनों में इस स्थान की कीर्त्ति दूर-दूर तक फैलने लगी। विट्ठल-दर्शन के लिए लोग प्रति एकादशी को एकत्र होने लगे।

कंधे पर पताका, हाथ में झाँझ और मुख से विट्ठल-विठ्ठल यह नामघोष, इस प्रकार खास कर आसाढ़ और कार्तिक सुदी एकादशी के दिन दूर-दूर से भक्त लोग आने लगे। इस प्रकार विट्ठल-दर्शन के लिए पंढरपुर आना 'वारी' के नाम से प्रसिद्ध हुआ और इन 'वारकरी' अर्थात् वारी करनेवाले लोगों का एक अलग ही पंथ बन गया।

इस विट्ठल-भक्ति के संप्रदाय को श्रीज्ञानेश्वर महाराज के कारण बड़ा महात्व प्राप्त हुआ। श्रीज्ञानेश्वर महाराज एक बड़े भारी विद्वान् साधु-पुरुष थे। इनके गुरु इनके ही बड़े भाई निवृत्तिनाथ थे। यद्यपि निवृत्तिनाथ को गाहनीनाथ के द्वारा नाथ-संप्रदाय की दीक्षा प्राप्त हुई थी, तथापि नाथपंथी योग की अपेक्षा ज्ञानेश्वर ने भगवद्भक्ति का ही अधिक विस्तार किया। आपने पंद्रह वर्ष की अवस्था में श्रीमद्भगवद् गीता पर एक बड़ी विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण भावबोधिनी नामक मराठी टीका लिख डाली। ज्ञानेश्वरी नाम से यही टीका बड़ी प्रसिद्ध है। मराठी भाषा के सर्वमान्य आद्यग्रंथ का मान इसी ग्रंथ को है और वारकरी-पंथ का तो यह मुख्य ग्रंथ ही माना गया है। इस ग्रंथ में भगवद्भक्ति को योग या ज्ञान से अधिक महत्व का बतलाया गया है। कर्म की तो इसमें अच्छी ही मगल उड़ाई है, और उसी के साथ-साथ कर्मठ ब्राह्मणों की। इसका एक कारण यह था कि श्रीज्ञानेश्वरजी को कर्मठ ब्राह्मणों द्वारा बड़ी तकलीफ़ उठानी पड़ी थी। ज्ञानेश्वर के पिता विट्ठल पंत अपनी तरुण अवस्था में संतति उत्पन्न करने के पहले ही अपनी पत्नी का त्याग कर संन्यास-दीक्षा ले चुके थे। पश्चात् अपने गुरु की आज्ञानुसार उन्हों ने फिर से गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। इस द्वितीय प्रवेश के बाद उन्हें निवृत्ति, ज्ञानेश्वर और सोपान् नाम के तीन पुत्र और मुक्ताबाई नाम की कन्या हुई। इस रीति से संन्यासी के पुत्र होने के कारण ये चारों जाति-बहिष्कृत थे। इसी अपमान के कारण श्री ज्ञानेश्वर जी का चित्त भक्ति-मार्ग की ओर झुका। उन्हों ने अपनी

समर्थ-वाणी से प्रतिपादन किया कि ईश्वर-प्राप्ति के लिए ब्राह्मणों की आवश्यकता नहीं है, हर एक मनुष्य को ईश्वर की उपासना करने का एक-सा हक़ है, और सप्रेम चित्त से यदि ईश्वर-भक्ति की जावे, तो बिना ब्राह्मणों की सिफ़ारिश के किसी भी मनुष्य को मुक्ति मिल सकती है। श्रीज्ञानेश्वर केवल इक्कीस वर्ष की अवस्था में ही समाधिस्थ हुए। इन का समाधि-काल ई० १२९६ है। इन की समाधि आलंदी नामक गाँव में है।

भक्तिपंथ का माहात्म्य बढ़ाने में जिस प्रकार श्रीज्ञानेश्वर जी की ग्रंथ-रचना का साहाय्य हुआ, उसी प्रकार इस पंथ की लोकप्रियता बढ़ाने का मान नामदेव जी को मिला। नामदेव जी के पिता दामाशेटी जाति के दर्जी थे। इन्हें बहुत दिन तक पुत्ररत्न न हुआ। इन की स्त्री अर्थात् नामदेव जी की माता गोणाई ने पंढरपुर के श्रीविट्ठल को खूब मनाया और श्रीविट्ठल की कृपा से उसे पुत्र हुआ। इसी का नाम नामदेव था। अपनी जवानी में गृहस्थी करते हुए नामदेव जी को भाई-बंदों ने खूब फँसाया। आख़िर संसार-दुःखों से त्रस्त हो इन का चित्त ईश्वर की तरफ़ झुका और ये हमेशा साधु-संतों के सहवास में रहने लगे। धीरे-धीरे ईश्वर-भक्ति में इन का चित्त रँगने लगा। अंत में ज्ञानेश्वर के छोटे भाई सोपानदेव के विसोबा खेचर नाम के शिष्य से नामदेव जी ने उपदेश ग्रहण किया। इन्हीं गुरु के पास इन्होंने अभंग नामक मराठी छंद की रचना सीखी और इसी छंद में रचना कर नामदेव भजन-कीर्तन करने लगे। इस भजन-रंग में आप ऐसे रँग जाते कि आप को खाने-पीने की भी सुध-बुध न रहती थी। घर में, बाहर, उठते-बैठते, सदा-सर्वदा आप की वाणी से अभंगों का प्रवाह एक-सा निकलता रहता। परिणाम यह हुआ कि नामदेव जी के घर के सभी लोग अभंग रचने लगे। पिता दामाशेटी, माता गोणाई, स्त्री राजाई; नारा, महादा, गोंदा और विठा नाम के चार पुत्र तथा उन की लाडाई, गोडाई, येसाई और साखराई नाम की चार स्त्रियाँ,

लड़की—सिवाई और बहिन आऊबाई ही नहीं; किंतु उन के घर में काम करनेवाली दासी जनाबाई भी ईश्वर-भक्ति पर अभंग रचने लगी। कहा जाता है कि इन सबों ने मिल कर ९६ लाख अभंग रचे। तात्पर्य यह कि इन की अभंग-रचना बहुत बड़ी थी। नामदेव जी की भक्ति का और इन की कविता का नाम बड़ी दूर-दूर तक फैला। श्रीज्ञानेश्वर के साथ इन्हों ने बड़ी दूर-दूर की तीर्थ-यात्रा की। नामदेव जी का एक मंदिर पंजाब में भी पाया गया है और, सिक्ख धर्म के ग्रंथ साहब में भी आप के कुछ अभंग पद वर्तमान हैं। यह भक्तराज अस्सी वर्ष तक इस दुनियाँ में रहे और पंढरपुर की तथा विट्ठल-भक्ति की महिमा खूब बढ़ा कर ई० १३८० में दिवंगत हुए।

ज्ञानेश्वर और नामदेव के समय में मानों महाराष्ट्र में संतों की फ़सल-सी आई थी। हर एक जाति का एक-न-एक संत था ही। कुम्हारों में गोरा और राका, मालियों में सांवता, सुनारों में नरहरि, तेलियों में जोगा, चूड़ी बनानेवालों में शामा नाम के साधु प्रसिद्ध थे। वेश्याओं में भी कान्होपात्रा नामक एक भक्त स्त्री थी। और तो क्या बिल्कुल नीच काम करनेवाले और अस्पृश्य समझे जानेवाले महार जाति के लोगों में भी बंका और चोखा नाम के दो साधु विद्यमान थे। इनमें से कई ज्ञानेश्वर नामदेव के साथ तीर्थ-यात्रा में भी शामिल थे। इस तरह महाराष्ट्रीय संतों की कीर्ति भारत भर में फैल रही थी। इन साधु-पुरुषों ने देश भर में प्रेम की वृष्टि की और इस अमृत-वर्षा से सब प्रकार का भेदभाव नष्ट होकर महाराष्ट्र भर में प्रेम-भाव फैल गया। इन साधु-संतों में एक विशेषता यह थी कि ये कभी भीख नहीं माँगते थे। अपने-अपने काम करना और आसाढ़ और कार्तिक की एकादशी को पंढरपुर में एकत्र होना, इन का कार्य-क्रम था। आपस में जात-पाँत भूल कर पैर पड़ना, गले लगना, एक-दूसरे की कविता लिखना और गाना और सब मिल कर एक दिल से श्रीविट्ठल का भजन करना, यही इन का धर्म था। चंद्रभागा के तट की रेती में देह-भाव भूल कर

विट्ठल की गर्जना करना और उसी प्रेम में आनंद से नाचना यही इन का व्रत था। इनका आचरण अत्यंत शुद्ध रहने के कारण तत्कालीन समाज पर इनका बड़ा असर पड़ता था। जाति-भेद तोड़ने का प्रकट और खुल्लम-खुल्ला उपदेश ये कभी नहीं देते थे; परंतु इन के सात्विक आचरण में भेदभाव को स्थान ही न था। 'भेद नहीं अभेद हुआ है, राम भरा जग सारा' यह उनकी कल्पना थी। ईश्वर-भक्ति का जो भूखा है, वह जात-पाँत नहीं देखता, जिसका जैसा भाव हो उसको वैसा ही मिलता है, यही इनका मुख्य उपदेश था। इन सब कारणों से उस समय महाराष्ट्र भर में भक्ति और प्रेम का साम्राज्य हो रहा था।

परंतु मुसलमान लोगों का आक्रमण नर्मदा के दक्षिण में बढ़ते ही यह स्थिति बदलने लगी। देवगिरि के जिस यादव-कुल के राज्य में महाराष्ट्र-भाषा तथा भगवद्भक्ति की एक-सी वृद्धि होती थी उस में यादवों का राज्य नष्ट होते ही बड़ा भारी खंड पड़ा। देवगिरि में मुसलमानी अमल जम गया और उसी के साथ महाराष्ट्र के बुरे दिन आए। हिंदू-सत्ता अधिकाधिक दक्षिण को जाने लगी। महाराष्ट्र से भाग कर हिंदू लोग कर्नाटक की शरण लेने लगे। इसी दशा में पंढरपुर का नाम सुन कर्नाटक के अनागोंदी नामक स्थान का राजा श्री विट्ठल के दर्शन को आया और पंढरपुर के देवता पर मोहित हो श्री विट्ठल-मूर्ति को अपनी राजधानी में ले गया। भगवान् के चले जाते ही वारकरी लोगों की संख्या कम होने लगी और पंढरपुर का महत्व घटने लगा। महाराष्ट्रीय भक्तिपंथ पर यह बड़ा ही संकट आया था। पैठण गाँव के भानुदास नामक भगवद्भक्त ने महाराष्ट्र को इस संकट से उबारा। यह अनागोंदी गया और राजा के यहाँ से चतुरता-पूर्वक श्रीविट्ठल की मूर्त्ति को वापस ले आया। पंढरपुर में फिर उस मूर्ति की स्थापना हुई।

इसी भानुदास के वंश में एकनाथ नाम का एक महासाधुपुरुष उत्पन्न हुआ। एकनाथ के पिता सूर्यनारायण भानुदास के पौत्र थे।

एकनाथ की माता का नाम रुक्मिणी था। बचपन में ही एकनाथ के माता-पिता का काल हो जाने के कारण उसका पालन-पोषण उस के दादा चक्रपाणि ने ही किया। इस की बुद्धि बड़ी तीव्र थी। विद्याभ्यास पूरा करने पर यह देवगिरि गया। यहाँ के सूबेदार जनार्दन पंत प्रसिद्ध भगवद्भक्त थे। मुसलमानों की सेवा में रह कर भी जिन सत्पुरुषों ने अपने धर्म तथा भाषाकी रक्षा भली-भाँति की थी, उनमें से ही जनार्दन पंत एक थे। दो मालिकों की सेवा एक ही सेवक को करना बड़ा कठिन है। पर जनार्दन पंत अपने मुसलमान मालिक तथा सर्वेश दत्तात्रेय दोनों की सेवा बड़ी चतुरता से करते थे। इन्होंने ज्ञानेश्वरी ग्रंथ का अध्ययन बड़े परिश्रम से किया था। एक शिष्य ने इन से उपदेश लिया। शिष्य की असाधारण बुद्धि देख जनार्दन पंत ने एकनाथ को मराठी में ग्रंथ-रचना करने की आज्ञा दी। एकनाथ मराठी और फ़ारसी दोनों भाषाओं में निपुण थे। इनके पद्य-ग्रंथों में फ़ारसी के अनेक शब्द पाए जाते हैं। इन की ग्रंथ-रचना में श्रीमद्भागवत के एकादश स्कंध पर लिखी हुई टीका बहुत प्रसिद्ध है। इस टीका-लेखन का पैठण में आरंभ हुआ और तीर्थ-यात्रा करते-करते ही एकनाथ ने इस का बहुत-सा भाग लिख कर टीका काशीपुरी में पूरी की। यह ग्रंथ पूरा होते ही इनकी प्रसिद्धि काशी के पंडितों में खूब हुई और तब से आज तक महाराष्ट्र भाषा में यह ग्रंथ बहुत माना जाता है। इस समय एकनाथ की आयु केवल २५ वर्ष की थी। इन्होंने बहुत से ग्रंथ लिखे। इन के ग्रंथों में अद्वैत-ज्ञान और भगवद्भक्ति का बड़ा सुंदर मिलाप देखने में आता है। इन का आचरण भी बड़ा शुद्ध और पवित्र था। भूतदया तो इन के नस-नस में भरी थी। इन्हों ने अतिशूद्रों को भी अपनाया और पितृ-श्राद्ध के लिए बनाई रसोई से क्षुधित अंत्यजों को भी ब्राह्मणों के पहले जिमाया था। यह एक बार आलंदी गए और वहाँ पर महीनों तक अपनी हरिकथा से लोगों को ईशगुण सुनाते रहे। श्रीज्ञानेश्वर महाराज के समाधि की बुरी हालत

देख, इन्हों ने उसका जीर्णोद्धार किया। उसी समय इन्हों ने एक और भारी काम किया। ज्ञानेश्वरी का अध्ययन तो इन्होंने जनार्दन पंत के पास किया ही था। उसी ग्रंथ में कई लोगों द्वारा प्रयुक्त बहुत से अपपाठ देख कर इन्हों ने ज्ञानेश्वरी का अत्यंत शुद्ध संस्करण तैयार किया। इस प्रकार अपनी उपदेश-वाणी से जड़ जीवों को तार कर श्रीएकनाथ जी महाराज अपनी वयोवस्था के ८१वें वर्ष में (ई०-१५९९) फाल्गुण वदी छठी के रोज़ समाधिस्थ हुए।

एकनाथ की मृत्यु के समय महाराष्ट्र की स्थिति उदयोन्मुख थी। श्रीज्ञानेश्वर महाराज ने जिस समय महाराष्ट्र में भक्ति-मार्ग की स्थापना की वह समय महाराष्ट्र के अत्यंत अनुकूल था। उस समय रामदेवराय से यादव-वंशी न्यायी राजा थे। हेमाद्रि पंडित-से शिल्पकला तथा लघु-लेखन-लिपि के प्रवर्तक विद्वान् मंत्री थे, बोपदेव से तीक्ष्ण-बुद्धि पंडित थे, ज्ञानदेव-से ज्ञानी और नामदेव ऐसे नाम-प्रेमी भगवद्भक्त थे, और मुक्ताबाई, जनाबाई-सी भक्त-स्त्रियाँ भी विद्यमान थीं। इसके बाद तीन सदियाँ महाराष्ट्र में बुरी तरह से गुज़रीं। यवन लोगों का आक्रमण महाराष्ट्र भर में हो गया और राज-सत्ता नाम को भी महाराष्ट्र में न रही। जिधर देखो उधर मुसलमानों का असर दिखाई देने लगा। पर फिर भी यह असर सर्वदेशीय न था। राजकीय बातों में यद्यपि महाराष्ट्र अपना स्वत्व खो बैठा था, तथापि धार्मिक, सामाजिक इत्यादि विषयों में उस ने अपनी बात बड़ी हिफ़ाज़त से सँभाल रक्खी थी। बहमनी राज्य के टुकड़े होते ही मराठा वीर और राजपुरुष अपनी राजकीय स्थिति को भी सँभालने लगे। मराठा लोगों का स्वाभिमान-दीपक बिलकुल कभी न बुझा; क्योंकि महाराष्ट्र-संतों द्वारा इस में हमेशा स्नेह डाला ही जाता था। ज्ञानेश्वर, नामदेव प्रभृति संतों ने हिंदूधर्म के जिस उदार नए स्वरूप का उपदेश किया था, उसी के कारण मुसलमान लोगों के अमल में भी हिंदूधर्म जड़ पकड़ रहा था। बीच के प्रतिकूल काल में जो साधु-संत हुए, उन्हीं के उपदेशामृत से

महाराष्ट्र अपने विरोधकों से टक्कर लेता रहा। मुसलमानी अमल के नीचे रहते हुए भी ये साधु-संत महाराष्ट्र भाषा की वृद्धि करते रहे और अपने अभिनव महाराष्ट्र-धर्म की ध्वजा फहराते रहे। यवन राजाओं के अधीन रह कर भी दामाजी पंत ऐसे वेदर के सत्पुरुष ने अकाल के समय बादशाही कोठों का अनाज लुटवा दिया और अपनी जान भी जोखिम में डाल कर हज़ारों ग़रीबों के प्राण बचाए। जनार्दन पंत ने भी अपनी तपस्या से बड़ा भारी काम किया। एकनाथ ने जिस ईश्वर-भक्ति का उपदेश किया, उस उपदेश से तो भिन्न-भिन्न देवताओं की उपासना करने वाले भी एक ही भक्तिमार्ग के अनुयायी कहलाने लगे। सप्तशृंगी पर शक्ति की उपासना करने वाले अंबकराय, चिंचवड़ में गजानन की भक्ति करनेवाले मोरया गोसाईं, शिंगणापुर के शिव-भक्त महालिंगदास इत्यादि लोगों को एकत्र संगठित करने का काम श्रीएकनाथ की ही प्रासादिक वाणी से हुआ। सारांश यह कि सत्रहवीं सदी के आरंभ में इन पूर्वोक्त महानुभावों से भी बढ़े-चढ़े विभूतियों के अवतार की महाराष्ट्र अपेक्षा कर रहा था।

इसी अवस्था में महाराष्ट्र को अच्छे दिन दिखलाने वाले महात्माओं का जन्म हुआ। श्रीएकनाथ जी के समाधिस्थ होने के पश्चात् नौ वर्ष से ही तुकाराम और रामदास इन दो भगवद्भक्तों का अवतार हुआ। ये दोनों भगवद्भक्त उन्नीस वर्ष के भी न हुए थे कि महाराष्ट्र धर्म-संस्थापक, गोब्राह्मण-प्रतिपालक श्रीशिवाजी महाराज रायगढ़ पर अवतीर्ण हुए। तुकाराम, रामदास और शिवाजी महाराष्ट्र का उद्धार करनेवाले तीन महापुरुष हैं। श्रीशिवाजी महाराज ने अपनी उज्ज्वल देशभक्ति से और अनुपम वीरता से महाराष्ट्र को पराधीनता से छुड़ाया। श्रीसमर्थ रामदास स्वामी जी ने धर्म और राजनीति का बड़ा ही मधुर मिलन करके भगवद्भक्तों को वीर और वीरों को भगवद्भक्त बनाया और श्रीतुकाराम महाराज ने समाज के नीचे से नीचे लोगों को भी उन्नत कर संपूर्ण देश की सर्वांगीण उन्नति की। ज्ञानेश्वर ने जिस

धर्म की स्थापना की, नामदेव ने जिसे बढ़ाया, एकनाथ ने जिसे उन्नत किया, उसी भक्तिपर महाराष्ट्र-धर्म को श्रीतुकाराम महाराज ने अत्युच्च सीमा को पहुँचाया। इस भगवद्भक्त की अभंग रूप वाणी महाराष्ट्र में केवल उस समय ही नहीं गूँज उठी, परंतु जब तक महाराष्ट्र भाषा-भाषी एक भी मनुष्य विद्यमान है, तब तक गूँजती रहेगी। संस्कृत-सी प्रगल्भ भाषा में प्रभुता प्राप्त किए पंडित, अंगरेज़ी-सी उपयुक्त परकीय भाषाएँ पढ़ कर अपनी अस्खलित वक्तृता से लोगों को मुग्ध करने वाले वाग्मी विद्वान्, साधारण ज्ञान प्राप्त कर अपनी जीविका चलाने वाले सामान्य जन, इन से लेकर पुस्तकी ज्ञान से पूर्णतया वंचित केवल लँगोटी पहिनने वाले 'काँधे कमलिया, हाथ में लकड़िया' रखने वाले समाज के आधारभूत अज्ञ लोगों तक एक भी मनुष्य महाराष्ट्र में ऐसा न मिलेगा, जिस के मुख में श्रीतुकाराम महाराज की अभंग रूप वाणी का कुछ न कुछ अंश वास न करता हो। इन्हीं दिव्य महात्मा का जीवन-वृत्तान्त और उनका दिया हुआ दिव्य संदेश नागरी भाषा-कोविद विद्वानों पर विदित करने के हेतु यह ग्रंथ लिखा जाता है।

द्वितीय परिच्छेद : तुकाराम का जन्म

तन मन धन से जगत हित ईश भक्ति करतार।
दुर्लभ ऐसे पुरुष का भूतल पर अवतार॥

श्रीतुकाराम महाराज का जन्म ई० १६०८ में देहू गाँव में हुआ। यह गाँव इंद्रायणी नदी के तट पर बसा है। इसी नदी पर आलंदी गाँव है, जहाँ श्रीज्ञानेश्वर महाराज समाधिस्थ हुए थे। देहू, आलंदी गाँवों के पास से बहते-बहते यह इंद्रायणी आगे जाकर भीमा नदी से मिलती है जिस के तट पर पंढरपुर है। जिस प्रकार पंढरपुर पुंडलीक के, आलंदी ज्ञानेश्वर के, गोदावरी तट पर का पैठण एकनाथ के, उसी प्रकार देहू तुकाराम के कारण प्रसिद्ध हुआ। आज महाराष्ट्र के प्रसिद्ध पवित्र स्थानों में वह एक समझा जाता है, और चैत बदी दूज से लेकर पाँच दिन वहाँ हज़ारों भाविक तुकाराम जी की निधन-तिथि मनाने के लिए जाते हैं। बंबई से पूना आते हुए घाट चढ़ने के बाद लोणावला नामक स्टेशन पड़ता है। इसी के पास इंद्रायणी का उद्गम-स्थान है। आगे चल कर तलेगाँव के बाद शेलारवाड़ी स्टेशन लगता है, जहाँ से देहू केवल तीन मील है। देहू गाँव के चारों ओर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर पहाड़ हैं। पश्चिमकी ओर दो मील पर भंडारा, दक्षिण की तरफ़ छः मील पर गोराडा और उत्तर को आठ मील पर भामनाथ नाम के पहाड़ हैं। इंद्रायणी पूरब की ओर बहती जाती है, पर देहू के पास काशी जी की गंगासी वह उत्तरवाहिनी हो जाती है। पंढरपुर में श्रीविट्ठल ईंट पर अकेले ही खड़े हैं। वहाँ उन के पास रखुमाई की मूर्ति नहीं। रखुमा माता का मंदिर वहाँ निराला है। पर देहू में विट्ठल और रखुमा बाई की मूर्तियाँ पास-पास ही विराज रही हैं। ये मूर्तियाँ तुकाराम महाराज के आठवें पूर्वज विश्वंभर बाबा जी के हाथ से स्थापित हुई हैं। मंदिर

उत्तराभिमुख है। सामने गरुड़ जी हैं। हनूमान भी पास में हैं। पूर्व की ओर विघ्नराज विनायक हैं और एक भैरवनाथ का भी स्थान है। दक्षिण में हरेश्वर का मंदिर, उसके पीछे बल्लालवन और वहाँ पर सिद्धेश्वर का देवालय और उसी के पास श्रीलक्ष्मीनारायण के ऐसे दो देवालय और हैं। ये सब देव-स्थान तुकाराम के जन्म से पूर्व के ही हैं। तुकाराम के एक अभंग में इन सबों का इसी प्रकार से वर्णन है। तुकाराम के कारण देहू प्रसिद्ध हो जाने पर नदी के तीर पर एक पुंडलीक का भी मंदिर अब बन गया है। इंद्रायणी यहाँ से मील डेढ़ मील तक बड़ी गहरी है। इसी स्थान पर तुकाराम अकेले आकर ईश्वर भजन करने बैठते थे। जब तुकाराम की हस्तलिखित कविताओं के काग़ज़ इंद्रायणी में डुबोए गए, तब यहीं नदी के किनारे एक बड़ी शिला पर तुकाराम तेरह दिन तक मुख में पानी की बूँद भी न डाले पड़े रहे थे। इसी शिला पर उन्हें ईश्वर का साक्षात्कार हुआ था और उन की कविता के डुबाए हुए बस्ते तेरहवें दिन नदी में फूल कर तैरने लगे थे। भगवान् बुद्ध के चरित्र में जिस बोधिवृक्ष के नीचे उन्हें निर्वाण-ज्ञान प्राप्त हुआ, उस का जो महत्व है, तुकाराम के चरित्र में इस शिला का भी वही महत्व है। तुकाराम के भक्तों द्वारा यह शिला अब देहू के विट्ठल मंदिर में लाई गई है और तुकाराम की ज्येष्ठ-पत्नी के नाम से तुलसी जो वृंदावन मंदिर में है, उसी के पास वह अब रक्खी गई है। मंदिर के पश्चिम में तुकाराम का मकान है। जिस कमरे में तुकाराम का जन्म हुआ वहाँ अब भक्तों ने एक नई विट्ठल-मूर्ति की स्थापना की है। इस वर्णन से पाठक अपनी दृष्टि के सामने देहू का चित्र खींच सकेंगे।

देहू गाँव की बस्ती प्रायः मराठा कुनबी लोगों की है। ये लोग जाति के शूद्र होते हैं। इन में से बहुतेरे खेती-बारी करते हैं। पर कुछ थोड़े व्यापार भी करते हैं। महाराष्ट्र के इन छोटे-छोटे गाँवों में कुछ-कुछ काम वंश-परंपरा से चलते हैं। इन्हीं कामों में से महाजन

का एक काम है। बाज़ार में बेचनेवाले और खरीदनेवाले दोनों से महाजन का संबंध आता है। बेचनेवाले के पास माल या खरीदने वाले के पास रुपया काफ़ी न हो, तो इस महाजन की ज़मानत पर व्यवहार किया जाता है और दोनों ओर से इसे नियमित फ़ी सदी कमीशन मिलता है। देहू गाँव की महाजनी तुकाराम के कुल में थी। इस के सिवाय तुकाराम के पूर्वजों की कुछ खेती-बारी, एक-दो बाड़े और थोड़ी-सी साहूकारी भी थी। थोड़ा-सा व्यापार भी इन के यहाँ होता था। सारांश तुकाराम का कुल देहू के प्रतिष्ठित लोगों में माना जाता था। ब्राह्मण जाति के न होने के कारण इन्हें यद्यपि वेदाध्ययन का अधिकार न था, तथापि पुराणादि ग्रंथों का ज्ञान तथा महाराष्ट्र भर में उस समय की प्रचलित विट्ठल-भक्ति और पंढरपुर की वारी इस कुल में चली आई थी। श्रीविट्ठल या पांडुरंग की सेवा को तुकाराम महाराज अपने पूर्वजों की वतनदारी कहते हैं और यद्यपि पूर्वजों के दूसरे वतन श्रीतुकाराम महाराज ने न चलाए तथापि इस विट्ठल-भक्ति के वतन को पूर्णतया चला कर आप ने यह वतनदारी चरम-सीमा को पहुँचा दी।

श्रीविट्ठल की यह वतनदारी करनेवाले इस कुल की जात थी शूद्र-कुनबी, धंधा था बनिए का, उपनाम था आँबले और कुलनाम था मोरे। इस कुल में विश्वंभर बाबा नामक एक प्रसिद्ध पुरुष हो गए थे। इनके पिता का देहांत बचपन में होने के कारण इन का पालन इन की माता ने ही किया। यथासमय विश्वंभर बाबा का ब्याह हुआ। इन की पत्नी का नाम आमाबाई था। विश्वंभर बाबा की छोटी-सी दूकान थी। विट्ठल-भक्ति सत्यता-पूर्वक व्यापार, अतिथिसत्कार इत्यादि सद्गुणों से विश्वंभर बाबा सब देहू-वासियों को बड़े प्रिय थे। पर कई साल तक बाबा ने पंढरपुर की वारी न की थी। उन दिनों वारी को जाना आज का-सा सुलभ न था। खास कर व्यापारी और पैसे वालों को चोर, लुटेरे तथा डाकुओं का बड़ा डर था। सोना लकड़ी में बाँध

काशी से रामेश्वर जाने के आज के से वे दिन नहीं थे। केवल फ़र्क़ इतना ही था कि आजकल हमारे पास सोना ही बाँधने के लिए नहीं है और उस समय सोने की कमी न थी। खासकर मुसलमानों का उन दिनों बड़ा डर रहता था। मुसलमान सिपाही हिंदुओं को बराबर लूटा करते थे और मौक़ा पाकर हिंदू भी उस का बदला लेने की ताक़ में रहते थे। ऐसे दिनों में यदि बहुत दिनों तक बाबा पंढरपुर न गए तो कोई अचरज की बात न थी। पर उन की माता उन्हें बराबर पंढरपुर जाने के लिए कहतीं। अंत में बाबा ने एक कार्तिकी एकादशी को पंढरपुर जाने की ठानी। अपने गाँव के भाविक लोगों को साथ लिया और 'विट्ठल, विट्ठल, जय जय विठोबा रखु माई, जय ज्ञानेश्वरी माउलीं' इत्यादि भजन करते-करते बाबा पंढरपुर गए। वहाँ पहुँचते ही भक्तों का ठाट देख कर बाबा के आनंद का ठिकाना न रहा। चंद्रभागा से पवित्र जल में स्नान कर, गोपीचंदन का टीका जमा, तुलसी के मणियों की माला गले में पहने हुए हज़ारों वारकरी लोगों की 'पुंडलीक वरदा हरि विट्ठल' की गर्जना सुन बाबा का शरीर पुलकित हो गया। मंदिर में जा कर 'टोपी सिर पर, अबीर तन पर, तुलसी की माल गले पड़ी, विट्ठल की मूरती खड़ी' देख कर बाबा के आँखों में अश्रु छा गए और थोड़ी देर उस विट्ठल-मूर्त्ति के पैरों पर माथा रख कर बाबा सुध-बुध भूल गए। विश्वंभर बाबा चार दिन पंढरपुर रहे और पूर्णिमा के दिन जो दही-हाँड़ी का उत्सव होता है, वह देख कर घर आने को निकले। पंढरपुर छोड़ने से बाबा को बड़ा दुःख हुआ और 'पुनरागमनाय च' का निश्चय करके बाबा घर पहुँचे। माता से सब हाल कह सुनाया और साथ ही हर एकादशी को पंढरपुर जाने का अपना दृढ़ निश्चय भी निवेदन किया। माता ने बहुत समझाया पर बाबा का निश्चय देख बेचारी चुप हो रही। विश्वंभर बाबा हर एकादशी को पंढरपुर जाने लगे। बाबा ने आठ महीने में १६ बारियाँ कीं। आने-जाने के आठ दिन और पंढरपुर में आने के दो दिन जाने

पर घर-गिरस्ती के काम देखने को हर पखवारे में बाबा को केवल चार-पाँच दिन रहने लगे। धंधे का नुकसान होने लगा। लोग भली-बुरी सुनाने लगे। पर चौमासा भी आ पहुँचा था। इन सब कारणों से बाबा का चित्त दुविधे में पड़ा। पर बाबा की अनन्य भक्ति देख श्रीविट्ठल ने स्वप्न में आकर बाबा को दृष्टांत दिया कि 'मैं तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न हूँ। अब तुम पंढरपुर आने का कष्ट न उठाओ। तुम्हारे बदले मैं ही रखुमाई के साथ तुम्हारे घर आता हूँ। मुझे गाँव बाहर के बन में से ले आओ।' विश्वंभर बाबा बड़े आनंदित हुए। स्वप्न में कहे अनुसार बाबा लोगों को लेकर बन में गए। वहाँ एक स्थान पर सुगंधि, फूल, अबीर, तुलसी पड़ी हुई देख बाबा ने वहाँ खोदा तो विट्ठल और रखुमाई की सुंदर मूर्त्तियाँ मिलीं। बाबा ने अपने घर के पास ही इंद्रायणी-तट पर मंदिर बनवाया और बड़े समारोह के साथ इन मूर्त्तियों की उस मंदिर में स्थापना की। अब बाबा को पंढरपुर की वारी करने का कारण नहीं रहा। बाबा के लिए देहू ही पंढरपुर बन गया।

विश्वंभर बाबा की संगति से आमाबाई का भी चित्त विट्ठल-भक्ति में आसक्त था। परंतु बाबा के हरि और मुकुंद दोनों पुत्र बाबा-से सात्विक तथा अल्प-संतुष्ट न थे। उनकी सांसारिक उच्च आकांक्षाओं के लिए देहू-सा छोटा गाँव पूरा न पड़ता था। उस समय दक्षिण में विजयनगर का हिंदू-राज्य स्थापित हो चुका था और उसका बोलबाला महाराष्ट्र में भी सुनाई देता था। अपने भाग्य की परीक्षा लेने के लिए, विश्वंभर बाबा के पश्चात् हरि और मुकुंद दोनों घर छोड़ विजयनगर पहुँचे और क्षात्रवृत्ति से फ़ौज में नौकरी करके रहने लगे। कुछ दिनों बाद उन्होंने अपनी स्त्रियों तथा माता को भी वहीं बुला लिया। आमाबाई का मन चल-विचल होने लगा। एक तरफ़ पुत्र-प्रेम और दूसरी तरफ़ विट्ठल-भक्ति। घर छोड़े तो विट्ठल की पूजा-

अर्चा कैसे हो, और देहू का घर न छोड़े तो पुत्रों का संसार कैसे सँभले। इस झगड़े में पुत्र-प्रेम की जीत हुई और आमाबाई विट्ठल-पूजा का कुछ प्रबंध कर विजयनगर गई। पर उसका चित्त एक-सा देहू में विट्ठल-मूर्त्ति के पास था। उसका मन उसे टोकता रहता था कि जो कुछ किया वह भला न किया। चित्त में एक-सा यही विचार आता था। एक रात उसे स्वप्न हुआ कि लड़ाई में उसके दोनों पुत्र मारे गए। उसने लड़कों को सपना सुनाया और उन्हें नौकरी छोड़ देहू चलने के लिए कहा। पर धन-मान के पीछे पड़े हुए तरुण-पुत्र बेचारी माता की बात कैसे मानें? नौकरी छोड़ देहू में जाकर फिर नमक-मिरची बेचने को वे तैयार न थे। अंत में माता का स्वप्न ही सच निकला। बहमानी सुलतान फ़ीरोज ने विजयनगर पर चढ़ाई की और उसी लड़ाई में हरि और मुकुंद दोनों काम आए। मुकुंद की स्त्री ने पति के साथ सहगमन किया। हरि की स्त्री गर्भवती होने के कारण वैसा न कर सकी और सास के साथ देहू लौटी। वृद्धा आमाबाई ने संसार छोड़ विट्ठल की सेवा में ही मन लगाया। हरि की स्त्री को प्रसुती के लिए उसके मायके भेज दिया। वहीं उसे पुत्र हुआ। आमा-बाई की इच्छानुसार लड़के का नाम विट्ठल रखा गया। पर आमाबाई को पोते का मुख देखने का सौभाग्य न मिला। विट्ठल छोटा ही था कि आमाबाई बीमार पड़ी। विट्ठल की माँ को खबर पहुँचाई गई। वह बेचारी गोद में बच्चा लेकर दौड़ती आई पर इन दोनों के देहू पहुँचने के पहले ही आमाबाई के प्राण-पखेरू उड़ गए थे।

विट्ठल की माँ अपने सब दुःखों का कारण एक ही समझती थी। वह था विट्ठलभक्ति को छोड़ देना। उसकी भोली भावना यह हो चुकी थी यदि उन का पति और देवर अपने घर पधारे हुए विठोबा का त्याग न करते, तो यह संकट-परंपरा उन पर न आती। उस के सास ने जो सपना देखा था, वह भी उसे ज्ञात था। उस के मन में यह बात पूरी-पूरी जम गई थी कि स्वप्न में प्रत्यक्ष श्री विट्ठल ने आगामी

संकट की सूचना दी थी, पर हम लोगों ने अज्ञानवश उस की ओर दुर्लक्ष्य किया और इसी लिए संकट-समुद्र में डूब मरे। विजयनगर से लौटने पर भी आमाबाई ने जो विठ्ठल-सेवा की, उसी का फल इस विठ्ठल-पुत्र के रूप में मुझे मिला है। अतएव अब हमें सिवाय विठ्ठल-सेवा के दूसरी शरण ही नहीं।

मुसीबतों से जो नसीहत आदमी सीखता है, उसे वह भुलाए भी नहीं भूलता। विठ्ठल के माँ की यह कल्पना और उस की आँखों के सामने उस कल्पनानुसार जो जीता-जागता उदाहरण था, इन का असर केवल विठ्ठल के ही मन पर नहीं, किंतु विठ्ठल के पुत्र पौत्रादि वंशजों के भी मन पर ख़ूब पड़ा हुआ दिखाई देता है। तुकाराम की मृत्यु के पश्चात् उन के भाई कान्होबा ने जो विलाप के अभंग रचे हैं, उन में भी वे कहते हैं, "नाथ, हम लोगों पर संकट-परंपरा डाल, आप हमें अपनी सेवा से अविचल रखते हो। अपने पूर्वजों का जो हाल हम ने सुना है, वह इस का प्रत्यक्ष उदाहरण है।" इस कारण से विठ्ठल की माता ने अपने पुत्र को उस के बचपन ही से विठ्ठल-सेवा का दूध पिलाया। वह उस से हर प्रकार की विठ्ठल-सेवा कराने लगी। चंदन घिसना, फूल लाना, तुलसी की माला गूँथना, भोग लगाना आरती उतारना, भजन करना इत्यादि काम बिल्कुल छोटेपन से ही विठ्ठल करने लगा। पर विठ्ठल को मातृ-सुख भी बहुत दिन न मिला। श्री-विठ्ठल ने उस की माँ को वैकुंठ में बुला लिया और देहू के मकान में विठ्ठल लड़का और विठ्ठल भगवान के सिवाय और कोई न रहा।

यथा-काल विठ्ठल बड़ा हुआ, उस का विवाह हुआ, वह संसार के धंधे में लगा। उसे पुत्र भी हुआ, सब कुछ हुआ, पर उस का ध्यान संसार में न जम सका। ऐन जवानी में भी वह विरक्त ही बना रहा और उसका पुत्र पदाजी जैसे ही घर सँभालने योग्य हुआ तैसे ही उस के गले में गृहस्थी बाँध वह पंढरपुर की वारियाँ करने लगा। आगे की तीन पीढ़ियों में यही क्रम चला। पदाजी का शंकर, शंकर का कान्होबा

और कान्होवा का पुत्र वोल्होवा—ये सब भगवद्भक्त थे, वैश्य-वृत्ति करते हुए भी असत्य न बोलने का इन का व्रत था। पुत्र के संसार का भार सँभालने लायक होते ही संसार की धुरा उस के कंधों पर रख भगवद्भक्ति करने के लिए पूर्णतया मुक्त होना यह मानों इन का कुलाचार ही हो चुका था। विट्ठल के समय से आसाढ़-कार्तिक की वारी इन के कुल में न चूकी। विट्ठल, पदाजी, शंकर और कान्होवा इन चारों का यही क्रम रहा। जन्म भर ये वारकरी बने रहे। इस अवस्था में यदि तुकाराम महाराज विट्ठल-सेवा को अपनी वतनदारी बतलावें तो अचरज ही क्या ? ईश्वर के पास वरदान माँगते समय भी तुकाराम कहते हैं, "महाराज मैं तो पंढरपुर का वारकरी हूँ। प्रार्थना इतनी ही है कि वह वारी मेरी कभी न चूकने पावे।'

यहाँ पर महाराष्ट्रीय वारकरी-पंथ के मुख्य-मुख्य सिद्धांतों को समझ लेना अनुचित न होगा। यह कहने की आवश्यकता ही नहीं कि इस मार्ग का उपास्य देवता श्रीविट्ठल है। वैसे तो ये लोग सब देवताओं को मानते हैं पर समय पड़ने पर सब से श्रेष्ठ श्रीविट्ठल को ही मानते हैं। तुकाराम कहते हैं—"मेरा पंढरीराज बड़ा ज़बरदस्त है। वह सब देवों का भी देव है। वह जाखाई, जोखाई, मायराणी, सावाई इत्यादि (ग्रामीण) देवताओं सा नहीं है। वह न तो मद्यमांसादि खाने वाली रंडी, चंडी, शक्ति-सा है, न रोट खाने वाले भैरव या खंडेराव-सा है। मुंजा वा, भैंसासुर तो उस के सामने के छोकरे हैं। मुँह काला हो उस वेताल फेताल का ! और तो क्या, लड्डुआ, मोदक, खाने वाले बड़े पेट के गणोवा से भी वह श्रेष्ठ है। चित्त में धारण करने योग्य है तो केवल एक ही है और वह है रखुमाई का पति विट्ठल।" श्रवण, कीर्तन, नामस्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन ये भक्ति के नौ प्रकार हैं। पहली दो प्रकार की भक्तियों में ब्राह्मणों का वेद शास्त्राभिमान आड़ आता है। उनके सिद्धान्तानुसार वेद-मंत्र केवल उच्चारने का ही नहीं, किंतु सुनने का भी

अधिकार सबों को नहीं है। पादसेवन से सख्य तक की भक्ति-रीतियों में ईश्वर-मूर्ति को छूने का प्रश्न उठता है और छुआछूत के भूत से पछाड़े हुए लोग हर एक मूर्ति को छूने का भी अधिकार यच्चयावत् मनुष्य को देने के लिए तैयार नहीं। इन सब बातों का विचार कर इस पंथ ने नामस्मरण पर ही ज़ोर दिया और नवीं भक्ति जो आत्म-निवेदन, अर्थात् आत्म-समर्पण है उसका मुख्य साधन नाम-स्मरण ही बनाया। क्योंकि नाम लेने में कोई किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं कर सकता। कम से कम वेद-शास्त्रों के अज्ञात विट्ठल नाम लेने का तो सबों को एक-सा अधिकार है। इसी कारण ईश्वर के सामान्य नाम राम, कृष्ण, हरि इत्यादिकों की अपेक्षा इस पंथ में विट्ठल नाम पर अधिक ज़ोर दिया जाता है। और यही कारण है कि पंढरपुर की वारी का असली आनंद श्रीविट्ठल दर्शन की अपेक्षा भी चंद्रभागा के बालुकायुक्त तीर पर सब संतों के साथ "विट्ठल रखुमाई, विठोबा रखुमाई" एक स्वर से कहने में और एक ताल से नाचने में है। एकादशी का उपवास और आसाढ़ी कार्तिकी एकादशी का पंढरपुर की वारी, यह इस पंथ का व्रत है। मद्य और मांस का वर्जन इन का नियम और भीख न मांग कर अपना-अपना काम करके उपजीविका करना इनका बाना। तुकाराम महाराज साफ़ कहते हैं—"भिक्षा माँगने के लिये कटोरा उठाना! आग लगे ऐसी जीविका को। ऐसे आदमी का तो नारायण को उपेक्षा ही करनी चाहिए। दीन, बेचारे, बन कर दुनिया पर अपना भार डालना इससे बड़ा दुर्भाग्य कौन सा हो सकता है? भीख मांगना तो एक ही बात ज़ाहिर करता है कि इस भिखमंगे का ईश्वर पर विश्वास नहीं है। ईश्वर की भक्ति करके दूसरे पर भार डालना तो एक प्रकार का व्यभिचार है।" भूत-मात्र में भगवान् समझ कर शरीर से, वाणी से, या मन से भी किसी को न दुखाना और सबों को उपयुक्त होकर जनता-जनार्दन की सेवा करना इस मार्ग का अंतिम ध्येय है। अन्य मार्गों के समान आज यह पंथ

भी थोड़ा बहुत बिगड़ गया है, पर जिस काल का वर्णन किया जाता है उस समय इस पंथ में सबसे अधिक पवित्रता वास करती थी।

ऐसे पवित्र कुल में तुकाराम के पिता बोल्होबा का जन्म हुआ था। कान्होबा को संसार का काम सुपुर्द कर लेने के बाद बोल्होबा ने अपना काम बड़ी दक्षता से सँभाला। इन की पत्नी कनकाई पूने के पास के लोहगाँव में रहनेवाले मोम्हे उपनामक कुल में पैदा हुई थी। यह भी गृहकार्य में बड़ी चतुर थी। जब बोल्होबा के पिता कान्होबा का देहांत हुआ तब बोल्होबा बिल्कुल तरुण ही थे। पिता जी ने यद्यपि घर के सब व्यवहार इन के सुपुर्द पहले ही किए थे, तथापि पिता के जीवित रहते सब व्यवहार करना एक बात थी और पिता की मृत्यु के बाद स्वतंत्रता-पूर्वक अपनी ही पूरी-पूरी ज़िम्मेदारी पर काम चलाना दूसरी बात थी। पर बोल्होबा बड़े धीरज के पुरुष थे। इन्हों ने न केवल घर के ही सब कामकाज सँभाले, पर आषाढ़-कार्तिक की बारी भी पिता जी के पीछे उतनी तरुण अवस्था में भी संभाली। इसी समय इधर इन की माता का भी देहांत हो गया। सब घर का काज ही इन दो पति-पत्नियों पर आ पड़ा। पर दोनों एक-दूसरे को धीरज देते थे। ठीक इसी समय अर्थात् सन् १८७३ में श्रीएकनाथ महाराज आलंदी गाँव में समाधि का जीर्णोद्धार करने आए हुए थे। उन का कीर्तन वहां रोज़ होता था जो सुनने के लिए बड़े दूर-दूर से लोग जमा होते थे। देहू गाँव आंवदी से केवल पाँच कोस दूरी पर है। इतने पास श्रीएकनाथ जी का कीर्तन है, इस बात का पता लगते ही बोल्होबा भी कभी-कभी कीर्तन सुनने जाते और घर में अकेली रहना ठीक न समझ कर कनकाई भी इन के साथ जाती। नाथजी से कीर्तन का प्रपंच-परमार्थ दोनों एक साथ साधने का सुंदर उपदेश सुन कनकाई के मन में भी विट्ठल-भक्ति दृढ़ हुई। बोल्होबा के साथ बारी करने के लिए वह भी कई बार पंढरपुर गई। इस प्रकार बोल्होबा तथा कनकाई के कई साल बड़े आनंद में गुज़रे। पति-पत्नी

का परस्पर प्रेम, घर में कुछ कमी न होने से चिंता का अभाव और दोनों के हृदय में श्रीविट्ठल की भक्ति तथा सेवा करने की अभिलाषा। फिर आनंद की क्या कमी ? पर जैसे-जैसे उम्र बढ़ने लगी, वैसे-वैसे संतान न होने का दुख दोनों पति-पत्नी को और विशेषतः कनकाई को असह्य होने लगा। बोल्होबा को ज्ञानेश्वर-एकनाथ के ग्रंथों से अधिक प्रेम था। परन्तु कनकाई को नामदेव जी के सीधे-सादे पर प्रेम भरे हृदयस्पर्शी अभंगों की अधिक चाव थी। "हे पुरुषोत्तम, तुम्हारे प्रेम में मुझे तो जान पड़ता है कि तुम हो आकाश, तो मैं हूँ भूमिका, तुम हो समुद्र, तो मैं हूँ चंद्रिका; तुम हो तुलसी, तो मैं हूँ मंजरी; तुम हो अलगूज,तो मैं हूँ बाँसुरी; तुम हो चाँद, तो मैं हूँ चाँदनी, तुम बनो नाग, तो मैं बनूँ पद्मिनी; नामदेव कहे तुम आत्मा मैं शरीर, पर असल में देखा जाय तो तुम और मैं दोनों एक ही हैं।" इत्यादि अभंग कनकाई बड़े प्रेम से गाती और अपने मन की अभिलाषा श्रीविट्ठल से निवेदन करती। अंत में बोल्होबा के पिता की मृत्यु के ठीक इक्कीस वर्ष बाद कनकाई को पहला पुत्र हुआ। इस का नाम सावजी। इसी साध्वी के दूसरे पुत्र श्रीतुकाराम महाराज थे। कहते हैं कि नामदेव जी की भगवद्गुण गाने की तथा एक कोटि अभंग रचना करने की अभिलाषा पूरी न हुई थी, जिसे पूर्ण करने के हेतु उन्हों ने तुकाराम के रूप से फिर अवतार लिया।

अवतारी पुरुष जन्म लेने के लिए शुद्ध-कुल ढूँढ़ते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं "योगी पुरुष का योग पूरा होने के पहले यदि उसका देहांत हो तो वह फिर अत्यंत शुद्ध-कुल में जन्म लेता है और वहाँ पर अपने पौर्वदैहिक बुद्धि-संयोग को पा अपनी योग-सिद्धि करता है।" फ़सल अच्छी आने के लिए जैसे बीज और खेत दोनों अच्छे लगते हैं उसी तरह सत्पुरुषों का सदैव पूर्व-जन्म तथा कुल दोनों अच्छे माने जाते हैं। बीज अच्छा हो, पर यदि वह ऊसर ज़मीन में पड़े तो किस काम का ! भला खेत खूब जुता हुआ

बिल्कुल तैयार हो, पर उस में यदि गला-सड़ा बीज बोया जावे तो भी क्या लाभ ? दोनों आवश्यक हैं। सत्कुल सुकृष्ट क्षेत्र का-सा है और पूर्व-संस्कार बीज-शक्ति के-से हैं। जहाँ दोनों का मिलाप होता है, वहीं फ़सल अच्छी आती है । इस लिए यदि नामदेव जी ने तुकाराम के कुल का-सा, एक-दो ही नहीं पर पीढ़ियों की पीढ़ियाँ श्रीविट्ठल-भक्ति में सना हुआ शुद्ध-कुल पसंद किया हो तो कुछ आश्चर्य नहीं। नामदेव के अवतार की कथा कल्पना भी मानें तो भी यह कहने में बिल्कुल अत्युक्ति न होगी कि विश्वंभर बाबा से ले कर बोल्होबा तक भगवद्भक्ति एक-सा करनेवाला कुल तुकाराम ऐसे सत्पुरुष को जन्म लेने के बिल्कुल योग्य था ।

कनकाई का प्रथम पुत्र सावजी था। पुत्र-जन्म की लालसा स्त्रियों के चित्त में स्वभावतः ही अधिक होती है। बिल्कुल बचपन से ही गुड़ियों का खेल खेलने के समय ही से वह प्रतीत होती है। उस पर भी एक-दो नहीं इक्कीस साल राह देख कर जिस पुत्र का लाभ हुआ हो, उस पुत्र-लाभ का आनंद कौन वर्णन कर सकेगा ? सावजी के जन्म से बोल्होबा और कनकाई दोनों बड़े आनंदित हुए। सूने घर में दीप जला। किसी ने कहा "देखो बच्चा कैसी चोर की सी नज़र से देखता है।" लड़के-संबंधी ये शब्द सुन माँ-बाप दोनों बोल उठे "नहीं, नहीं। चोर न कहो। हमारा लाल तो साव है।" बस, लड़के का नाम सावजी पड़ गया। सावजी तीन ही साल का था कि कनकाई फिर पेट से रही। कई दिनों की राह देख कर चातक को भी जब भगवान् जल देता है, तब केवल एक ही बूँद नहीं देता । फिर कनकाई-सी साध्वी स्त्री की इक्कीस साल राह देखने के बाद यदि भगवान् पुत्र दे तो वह भी एक क्यों ? एक ही लड़का जननेवाली स्त्री को भी संसार में प्रतिष्ठा कहाँ ?. वह तो काक-वंध्या ही कहलाती है। वंध्यात्व का दुःख दूर हुआ तिस पर भी कनकाई को काक-वंध्यात्व का तो डर था ही। पर जब दूसरी बार वह गर्भवती हुई, तब तो उस के आनंद की सीमा न

रही। उस का निश्चय हो गया कि यह सब श्रीविट्ठल-भक्ति का तथा नामदेव जी के अभंग गाने का ही फल है। देर से क्यों न हो, पर आखिर भगवान् प्रसन्न तो हुए। इस कारण उस की विट्ठल-भक्ति बढ़ती ही गई। घंटों तक वह अपने विट्ठल-मंदिर में भगवान् की ओर ध्यान लगा कर बैठने लगी। श्रीविट्ठल का नाम लेना, उसी के भजन गाना, उसी का पूजन करना, उसी को परिक्रमा देना इत्यादि बातों में कनकाई को आनंद आने लगा। श्रीनामदेव जी की ओर तो उस का प्रेम कई गुना बढ़ गया। महीपति ने अपने संत-चरित्र नामक ग्रंथ में यही बात रूपकालंकार से यों बखानी है। 'सायुज्यतामुक्तिरूपीस्वाति-नक्षत्र के समय कनकाई की उदर-शुक्तिका में नामदेव का प्रेम-जल गिरा और नवविध भक्ति के नौ महीने पूरे होने पर उस सीप में से तुकाराम रूपी मोती पैदा हुआ।''

शिशिर ऋतु समाप्त होने को थी। जाड़े की पीड़ा कम होने लगी थी। आगामी वसंत के शुभ-सूचक चिन्हों को प्रकृति धारण कर रही थी। दक्षिणाशा के कारण जो प्रतापशाली भानु निस्तेज हो गया था, वह शनैः-शनैः उत्तरापथ का आक्रमण करने के लिए झुक कर अपनी सतेजता बढ़ा रहा था। ऐसे समय माघ महीने की शुक्ला पंचमी को अर्थात् वसंत पंचमी के दिन शुभ मुहूर्त्त में श्रीतुकाराम महाराज का जन्म हुआ। रघु राजा के जन्म-समय का कालिदास महाकवि ने वर्णन किया है कि "दिशा विमल हुई। सुख-स्पर्श वायु बहने लगा। ऋषि-मुनियों के दिए हुविर्भाग को अग्निदेव अपनी प्रदक्षिण-ज्वाला से ग्रहण करने लगे।" तुकाराम के जन्मसमय भी शायद ऐसा ही हुआ होगा। क्योंकि इन सब शुभ-सूचक बातों का कारण रघु राजा के विषयों में जो कालिदास ने लिखा है, वह तो रघु की अपेक्षा श्रीतुकाराम महाराज के विषयों में ही अधिक सत्य है। वह कारण कालिदास के मत से था कि—

भवोहि लोकाभ्युदयाय तादृशाम्

३५१

ऐसे लोगों का जन्म निश्चय-पूर्वक संसार की उन्नति के लिए ही होता है। निःसंदेह रघु राजा की अपेक्षा तुकाराम अधिक लोकाभ्युदय करने वाले थे। सारा महाराष्ट्र उन की प्रासादिक-वाणी से उन्नत हुआ।

तृतीय परिच्छेद : तुकाराम का संसारसुख

देव भक्त को सुख न दे, दुखहि सदा बहु देत ।
सुख में न फँसे, दुःख से, उन्नत हो, यह हेत ॥

निसर्ग से एक वस्तु पैदा होती है। जब उस के गुणों से मानव-जाति को लाभ पहुँचता है, तब मनुष्य भी कृत्रिम उपायों से उस को उत्पन्न करने लगता है। ऐसी वस्तु के विकास-काल, विकास-क्रम इत्यादि विषयों का पूरा-पूरा लेखा मिल सकता है। पर निसर्गोत्पन्न किसी वस्तु का तो तब तक अस्तित्व ही ध्यान में नहीं आता, जब तक कि उस के गुणों से लुब्ध हो मनुष्य उस की ओर स्वयं दौड़ कर न आवे। उदाहरणार्थ-जब किसी बाग़ में कोई माली आम का पेड़ लगाता है, तब वह लगाया कब गया, उस में पत्तियाँ कब फूटीं, बौर कब आया, उस में फल कब लगा, उन की संख्या क्या थी, उन में से गले कितने, पके कितने, उन के बेचने से कितनी आय हुई इत्यादि सब बातों का पता चल सकता है। परन्तु जब कि नैसर्गिक बन में एकाध रसीला आम फूलता-फलता है, तब तो उस की पहिचान ही तब होती है जब कि भाग्यवश कोई पुरुष उस के बौर की सुगन्ध से या फल के रस से लुब्ध हो उस की ओर दौड़ा आता है। उस के विषय में यह प्रायः अज्ञात ही रहता है कि उस की पहचान के पूर्व उस की क्या स्थिति थी। इस हालत का जानकार कोई माली नहीं रहता। उस का पता तो इधर-उधर से आने-जाने वाले लोगों से पूछा-पाछी कर या उस आम की अन्य बातों से अनुमान कर के ही लगाया जाता है। अर्थात् ये सब बातें कई अन्य आगंतुक कारणों पर निर्भर रहती हैं। हमारे सौभाग्य से यदि उन में से कुछ समझ में आ जावें तो अच्छा ही है। अन्यथा उस के विषय में ऐसी बातों की अपेक्षा उस के सौरभ या रस का ही सेवन करना उचित है। अपनी उज्ज्वल कीर्ति से

संपूर्ण संसार को प्रकाशित करने वाले और पूर्वजों के गुणों से प्रसिद्ध नहीं, प्रत्युत पूर्वजों को तथा वंशजों को अपने ही गुणों से प्रसिद्धिपात्र करने वाले श्री तुकाराम महाराज के-से सत्पुरुषों के विषय में भी यही हाल है। संसार में इन की प्रसिद्धि होने से पहले का इन का चरित्र बहुत ही थोड़ा ज्ञात है। फिर भी श्रीतुकाराम महाराज के विषय में कई आधारों से जो कुछ थोड़ी बहुत बातें मालूम हैं उन का वर्णन करना चरित्र-लेखक का आद्य कर्तव्य है। क्योंकि इन्हीं बातों के कारण अग्रिम चरित्र की कई बातों का रहस्य खुलता है। इस परिच्छेद में वर्णन करने के लिए तुकाराम के जीवन का वही काल-विभाग चुना है जिस में सांसारिक-दृष्टि से लोग जिसे सुख कहते हैं, उस की प्राप्ति तुकाराम को हुई। यह काल-विभाग बहुत बड़ा नहीं है। इस का मान केवल सत्रह वर्षों का है। थोड़ा बहुत खींच कर इसे इक्कीस साल का कर सकते हैं। पहले सत्रह साल में तुकाराम का सांसारिक-दुःख से परिचय ही न था। सत्रहवें वर्ष उन के घर में दो मृत्यु हुईं। एक इन के पिता जी की और दूसरी इन की भावज की। अठारहवें साल इन के बड़े भाई घर छोड़, विरक्त हो, तीर्थयात्रा करने चले गए। इस के बाद दो साल तुकाराम महाराज ने अपनी बिगड़ती हुई गिरस्ती सँभालने की दिलो-जान से कोशिश की पर नाकामयाब हो उन्हें दिवाला निकालना पड़ा। बस, यहाँ से इन के दिन सांसारिक दृष्टि से फिरे, परंतु पारमार्थिक-दृष्टि से ऐसा कहने में कुछ बाधा नहीं कि उन के असली चरित्र का यहीं से आरंभ हुआ। इन्हीं बातों का इस परिच्छेद में वर्णन किया जावेगा।

तुकाराम का बाल्य बड़े सुख में बीता। ये अपने माता-पिता के बड़े लाड़ले थे। वैसे तो सभी लड़के माता-पिता को प्रिय रहते हैं। पर जब स्त्री-पुरुष के मन में संतान-न होने की इच्छा हो या कम से कम संतान होने की अभिलाषा न हो, तब उपजे हुए संतान के प्रति उन का उतना प्रेम नहीं रहता जितना कि उस संतान के प्रति माता-पिता के मन में रहता है, जिसकी प्राप्ति संतान-रहित होने का दुःख ध्यान

में आने के बाद ईश्वर की कई बार की हुई मनौतियों के कारण उन्हें होती है। ज्येष्ठ पुत्र सावजी तो पिता का बड़ा प्यारा था ही; पर तुकाराम भी कुछ कम न था। तुकाराम के जन्म से मानों दोनों माता-पिता का प्रेम ठीक दो जगहों में बाँटा गया। इन दो लड़कों के लिए जो-जो कष्ट उठाने पड़ते, उन्हें बोल्होबा और कनकाई दोनों बड़े सुख से सहते। तुकाराम महाराज के अभंगों से भली भाँति जाना जाता है कि उन्हें माता के प्रेम का खूब अनुभव था। माता इनकी खूब ही खबरदारी लेती थी। इन्हें छोड़ उन्हें खाना भी अच्छा नहीं लगता था। भूख के मारे रोने के पहले ही वह इन्हें दूध पिलाती और खेल में ये यदि भूख भूल जाते तो भी इन्हें समझा कर खिलाती। इनके दुख से उनका चित्त ऐसा छटपटाता मानों भाड़ में पड़ा हुआ जवार का दाना हो। इनका वही सुख उनका सुख था। वह इन्हें तरह-तरह के कपड़े और गहने पहनातीं और प्रेमभरी आँखों से इन्हें देखते न अघातीं। फिर एक दम से 'अति स्नेहः पापशंकी' के न्याय से खुद अपनी ही नजर पड़ने के भय से पैरों पर बिठा काजल का टीका लगातीं और डीठ निकालतीं। मातृ-प्रेम के इन सब प्रकारों का वर्णन तुकाराम के अभंगों में पर्याप्त पाया जाता है।

तुकाराम का लाड़ करने के लिए केवल माता-पिता ही नहीं, वरन् इन का बड़ा भाई सावजी भी था। पर तुकाराम किसका लाड़ करें? ईश्वर ने शीघ्र ही इन्हें लाड़ करने के लिए एक छोटा भाई भेजा। कनकाई को यह पुत्र हुआ। उस समय तुकाराम पाँच वर्ष के थे। जिस घर में १६०५ तक बोल्होबा और कनकाई दो ही मनुष्य थे, उसी घर में आठ साल के भीतर भगवान् की दया से तीन पुत्र खेलने लगे। मँझोला भाई होने का दुःख कई जगह लिखा है। ऐतरेय ब्राह्मण के शुनः शेपाख्यान में जब अजीगर्त ऋषि पर लड़का बेचने का प्रसंग आया, तब पिता ने बड़े और माता ने छोटे लड़के को बेचने से इन्कार किया। हरिश्चन्द्र के यहाँ उस समय बलिदान दिए जाने के लिए

बेचारे मध्यम पुत्र पर ही प्रसंग आया। रामायण में तथा भासकृत मध्यम व्यायोग में भी यही बात वर्णित है। पर तुकाराम के अभंगों से जान पड़ता है कि इन्हें मँझोला भाई होने का केवल सुख ही मिला। बड़े-बेटे को हमेशा बड़ा ही रहना पड़ता है और सब से छोटा भाई कभी सब से बड़ा भाई नहीं हो सकता। इस बीच के भाई को बड़ी मौज रहती है। मन माने तब वह बड़ा बन छोटे को दबकाता है और दिल चाहे तब छोटा बन बड़े भाई की चीज़ें हठ से छीन सकता है। तुकाराम को यह सुख बचपन में खूब मिलता रहा। इन के छोटे भाई को दादा का ही नाम अर्थात् कान्होबा का ही नाम दिया गया था। सावजी, तुकाराम और कान्होबा तीनों बालक बड़े आनन्द से दिन बिताते और इनकी बाल-लीलाएँ देख बोल्होबा और कनकाई अपने को बड़े सुखी और कृतकृत्य समझते।

तुकाराम के अभंगों से जान पड़ता है कि बचपन में तुकोबा बड़े खिलाड़ी थे। अपनी उम्र के लड़कों को इकट्ठा कर ये कई खेल खेलते। प्रायः उन सब खेलों पर जो महाराष्ट्र में उस समय प्रचलित थे, इन्होंने रूपक बना कर अभंग रचे हैं। इन अभंगों से उस समय के खेलों का अच्छा ज्ञान होता है—विशेषतः उन खेलों का, जो तुकाराम प्रायः खेला करते। तुकाराम का सब से प्रिय खेल 'टिपरी' जान पड़ता है। इस खेल में १३ या १७ खिलाड़ी रहते जो दो पक्षमें बाँटे जाते। बचा हुआ लड़का बीच में खड़ा रहता और गाता। उस गाने के ताल पर अपने हाथों में टिपरियों से—ताल देने के लिए छोटे-छोटे लकड़ी के डंडों से—ताल देते हुए, उस बीच के लड़के के चारों ओर चक्कर लगाते। चक्कर के हर एक लड़के के दोनों ओर उसके प्रति-पक्ष के लड़के रहते। जो कोई ताल देने में चूकता, उसे बीच में खड़ा होना पड़ता और बीच का लड़का उसका स्थान लेता। इस खेल का कौशल टिपरियों से एक नाद में ताल बजाने और ताल के साथ पैर उठाने में है। दूसरे खेल का नाम 'विटीदांडू' है। उत्तर हिंदुस्थान

के 'गिलीडंडे' का-सा यह खेल था। दांडू याने डंडा और विटी याने गिल्ली। यह खेल कर्नाटक की ओर से आया। इस खेल में जिन वकट, लेंड, मूंड इत्यादि शब्दों का प्रयोग होता है और जिन के अनुसार शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों पर से गिल्ली डंडे से मारी जाती, वे शब्द कर्नाटकी की भाषा के एक, दो, तीन इत्यादि संख्या के दर्शक शब्द हैं। तीसरा खेल 'चेंडूकली'। इस खेल में एक लकड़ी की पट्टी से गेंद उछाला जाता है और बाकी खिलाड़ी उसे ढूँढ़ते हैं। जो ढूँढ़ लाता है उसे उछालने का हक़ मिलता है। 'हाल' नाम का खेल तुकाराम के समय में और खेला जाता था। इसमें दोनों तरफ़ के खिलाड़ी अपना-अपना नाम रख लेते। उदाहरणार्थ-एक पक्ष के खिलाड़ी अपने को तिल कहते तो दूसरे पक्ष के चावल। फिर एक की आँखें बाँधी जातीं। वह दूसरे खिलाड़ियों में से किसी को छूता और साथ ही यह बताता कि वह तिल है या चावल। यदि ठीक बताता तो छुए लड़के की आँखें बाँधी जातीं, अन्यथा पहले को फिर खेलना पड़ता। 'हुँबरी' और 'हुमासा' नामक और भी दो खेल थे। पहले में नाक से साँस नीचे छोड़ते कहा जाता था 'हुं : हुं : हुं :' और दूसरे में साँस ऊपर को फेंकते कहा जाता 'हं हं हं'। दोनों खेलों में यही जाँच की जाती कि किस खिलाड़ी की साँस जल्दी टूटती है। जिस पक्ष के खिलाड़ी की साँस टूटती उस का स्थान उसी पक्ष का दूसरा खिलाड़ी लेता। अंत में जिस खिलाड़ी का पक्ष रहता, वही जीतता। 'मृदंगपाटी' या 'आटी-पाटी' 'खोखो' और 'हुतूतू', तीनों खेल तो महाराष्ट्र में आज भी खेले जाते हैं। क्रिकेट, फ़ुटबाल, हॉकी इत्यादि विदेशी खेलों के साथ-साथ इन देशी खेलों की भी मैचें महाराष्ट्र की शाला-पाठशालाओं में होती रहती हैं। आज जिस सुनियमित-रीति से ये खेल खेले जाते हैं, उसी रीति से यद्यपि तुकाराम के समय ये नहीं खेले जाते थे ; पर खेलने की सामान्य पद्धति वही थी, जो आज है। 'कुरघोडी' नाम का भी खेल उस समय खेला जाता था। इस में एक ओर के खिलाड़ी एक दूसरे

की कमर पकड़ एक के पीछे एक घोड़े की नाईं खड़े रहते और दूसरे पक्ष के खिलाड़ी इन घोड़ों पर कूद या लंबी उछाल लेकर सवार की नाईं चढ़ बैठते। छोड़े हुए खिलाड़ी अपना बदन हिला कर सवारों को गिराने का तथा ऊपर के सवार घोड़ों पर जम बैठ कर उन्हें थकाने का प्रयत्न करते। थक जाने का निदर्शक शब्द कुर था, जिस के कहते ही उस घोड़े के पीठ पर से सवार उतर जाते।

ऐसे खेल-कूदों में तुकाराम का बचपन देखते-देखते निकल गया। साथ ही साथ बोल्होबा इन लड़कों को लिखना-पढ़ना, हिसाब लगाना, जमा-खर्च लिखना इत्यादि भी पढ़ाया करते। तुकाराम की बुद्धि इधर भी कम न थी। पर सावजी को इन सब बातों से एक तरह की नफ़रत-सी हो थी। माँ-बाप के साथ भजन करना, अभंग गाना इत्यादि में ही उन्हें अधिक आनन्द आता था। पिता के लाड़ले होने के कारण पहले-पहल इन के पढ़ने-लिखने की ओर ज़रा दुर्लक्ष हुआ जिसका फल यह हुआ कि सावजी पढ़ने-लिखने में विशेष प्रगति न कर सके। बचपन से ही उनका मन विरक्ति की ओर झुका हुआ था। बोल्होबा ने विचार किया 'यदि इसका विवाह हो तो संभव है इसका चित्त संसार की ओर आकृष्ट हो।' यह विचार कर सावजी का विवाह उन्होंने उसके पंद्रहवें वर्ष में ही कर दिया और विवाह की हल्दी भी पूरी छूटने न पाई थी कि एक दिन उसे पास बुला कर उसके गले में संसार के काम डालने का अपना मनोदय उस पर व्यक्त किया। सावजी ने बड़ी नम्रता से पर निश्चय-पूर्वक स्वर से जवाब दिया। "पिताजी, मेरा मन तो संसार में बिल्कुल नहीं लगता। मन में आता है कि घर छोड़ तीर्थ यात्रा के लिए जाऊँ और इस मनुष्य-देह को सार्थक करूँ।" पिता ने बहुत प्रकार समझाया, पर सावजी ने अपना कहना न छोड़ा। ईश्वर-भजन करने के लिए संसार के धंधों से बोल्होबा पूरा-पूरा छुटकारा चाहते थे। सावजी का उत्तर सुन उन का चित्त व्यथित हुआ; पर यह विचार कर कि यदि अधिक बोलूँ तो यह आज ही घर छोड़ कर भाग जाय, वे

सावजी से कुछ न बोले। उन्हों ने तुकाराम को बुला कर उस पर अपनी इच्छा विदित की। तुकाराम की उम्र उस समय मुश्किल से तेरह वर्ष की थी। तुकोबा ने बोल्होबा की सब बातें सुनी और पिताज्ञा पालन करने का निश्चय किया। तुकाराम बड़े मातृ-पितृ भक्त थे। उन्हों ने माता से पूछा और जब उसकी भी वही इच्छा देखी तो माता-पिता को संतुष्ट करने के हेतु इस छोटे वय में भी उन्हों ने पिता की आज्ञा मान्य की। बोल्होबा बड़े आनंदित हुए और उसी दिन से धीरे-धीरे एक-एक काम तुकाराम के सुपुर्द करना उन्हों ने शुरू किया।

तुकाराम बुद्धि में कम न थे। बड़ी सावधानी से वे सब बातें समझ लेने लगे और दूकान तथा सावकारी का जमा-खर्च लिखने लगे। साल भर के भीतर-भीतर वही-खाते पर से अपनी लेन-देन तथा सांपत्तिक स्थिति भली-भाँति समझने तक तुकाराम की प्रगति हुई। इनकी होशियारी से चकित हो हर एक आदमी बोल्होबा से कहता कि बोल्होबा लड़का तो बड़ा होनहार है। बाप का नाम अच्छी तरह से चलावेगा। लड़के की तारीफ़ सुन बोल्होबा के हर्ष का ठिकाना न रहता था। वे तुकाराम को साहूकारी के तथा दूकानदारी के रहस्य समझाने लगे। लेन-देन कैसे करनी चाहिए, रुपया उधार देते समय किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए, खरीदी कब की जावे, माल किस भाव से बेचा जावे, अपना मुनाफ़ा उस पर कितना चढ़ाना चाहिए, खेती-बारी की ओर ध्यान कैसे देना चाहिए इत्यादि बातें बोल्होबा दक्षता-पूर्वक तुकाराम जी से कहते और उसी के अनुसार चल कर तुकाराम अपनी और अपने धंधे की उन्नति करते। अब तो सावजी से भी तुकाराम पर पिता का अधिक प्रेम जमने लगा। महाराष्ट्र-भाषा के प्रसिद्ध कवि मोरोपंत कहते हैं "विद्या प्राप्त की, धन भी कमाने लगा, उस पर भी बाप का कहा माने और गिरस्ती का भार अपने सिर पर ले, वही पुत्र पिता को अधिक प्रिय होता है।" अब उन्होंने बड़े ठाट से तुकाराम की शादी की। बहू का नाम रखुमाई रक्खा गया। पर थोड़े ही दिनों में यह

समझने पर कि इस रखुमाई को साँस की बीमारी है, वोल्होवा बड़े दुखी हुए। लड़के के गले में क्या आफ़त बाँध दी। इस बीमार लड़की के साथ उसे संसार-सुख क्या और कैसे मिले इत्यादि चिंताओं से वोल्होवा का जी व्याकुल होता। इन पिता-पुत्रों का और खास कर ऐसी छोटी उम्र में ऐसी चतुरता से और सावधानी से सब काम काज सँभालने वाले तुकाराम का नाम पूना प्रांत के साहूकारों में खूब प्रसिद्ध हुआ और साथ ही साथ इस विवाह की बात भी चारों ओर फैलने लगी। इस हालत में पूने के अप्पाजी गुळवे नामक एक साहूकार ने अपनी अवली नाम की कन्या तुकाराम को देने का प्रस्ताव जब वोल्होवा के सम्मुख किया तो वोल्होवा ने यह मौक़ा हाथ से न जाने दिया। उन्हों ने अप्पाजी का कहना मान लिया और अपने वय के सोलहवें वर्ष में ही दूसरा विवाह करके तुकाराम द्विपत्नीक हो गए। उन की इस दूसरी पत्नी का नाम जिजाई रक्खा गया।

इस के बाद के दो साल सांसारिक दृष्टि से तुकाराम के जीवन में परम सुख के थे। पिछले सुखपूर्ण जीवन-विभाग की बातें करते हुए श्रीरामचंद्र के मुख से, पत्थर को भी रुलानेवाले भवभूति कवि ने कह-लाया है कि "पिताजी के जीवित रहते नव-परिणीत स्त्री के साथ माता-जी की देखभाल में जो दिन हम ने सुख से बिताए, वे दिन अब फिर कभी न आवेंगे।" श्रीतुकाराम जी के जीवन में सुखपूर्ण ये दो साल जो बीते उन के विषय में ठीक यही भवभूति की उक्ति जमती है। केवल दो ही साल माता, पिता, भाई, भावज, पत्नी इत्यादिकों से भरे घर में श्रीतुकाराम महाराज ने सुख प्राप्त किया। इसी समय रखुमाई से इन्हें एक पुत्र-रत्न की भी प्राप्ति हुई। यह समझ कर कि संतों ही की कृपा से यह सब वैभव प्राप्त हुआ, वोल्होवा ने अपने नाती का नाम संताजी रक्खा। अब वोल्होवा को कमी क्या थी? घर में अनुकूल स्त्री, किसी बात की कमी नहीं, विद्या-विनय इत्यादि गुणों से युक्त पुत्र और

तिस पर भी पुत्र को पुत्र हुआ! फिर यदि किसी संस्कृत कवि के कथनानुसार बोल्होबा के मन में आने लगा कि अब 'सुरवरनगरे किमाधिक्यम्'—अब स्वर्ग में क्या अधिक सुख है, तो आश्चर्य ही क्या? पर जान पड़ता है कि देवों से यह सुख न देखा गया और मानो यह दिखलाने के लिए कि स्वर्ग में क्या विशेष है, वे बोल्होबा को मृत्युलोक से उठा कर स्वर्ग ले गए। उन की उम्र हो चुकी थी। सब प्रकार के सुखों का भी उन्हों ने उपभोग कर लिया था। इस लिए वास्तव में उन की मृत्यु अशोच्य ही थी। पर कहावत है कि 'बूढ़े के मरने का डर नहीं पर काल घर देख जाता है'। और तुकाराम के विषय में यह कहावत बिल्कुल ठीक निकली। जिस काल ने आज लगभग चालीस साल तक बोल्होबा के घर में प्रवेश नहीं किया था, वही काल सन् १६२५ में केवल बोल्होबा ही को न उठा ले गया, पर कुछ ही दिन बाद सावजी की पत्नी को भी ले गया।

पिता की मृत्यु से तुकाराम बड़े दुखी हुए। जिन्हें संतुष्ट करने के हेतु उन्हों ने ऐसी छोटी उम्र में इतना भार अपने सिर पर लिया था; दिनरात कष्ट उठा कर सब प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक क्लेशों को सहा था, उन के चले जाने पर तुकाराम पर तो मानों आकाश ही फट गया। सिर पर संभालनेवाला अब कोई न रहा। बड़े भाई की तो बात ही क्या? वे तो पहले ही से फक्कड़ थे। घर में रहे तो केवल पिता के अनुरोध से। उन का दिल तो संसार में था ही नहीं। अब तो पिताजी का भी काल हो गया और पत्नी के मरने से विवाह की भी पैरों में से बेड़ी छूटी। अब कोई ऐसा पाश न था जो सावजी को घर में रक्खे। उन की उम्र तो वैसे बहुत बड़ी न थी। आजकल तो बीस वर्ष के लड़कों के क्या कई लड़कियों के भी विवाह नहीं होते। यद्यपि वे दिन दूसरे थे तथापि चाहते तो वे फिर विवाह कर सकते थे, पर उन्हें संसार की परवाह ही कहाँ थी। कालिदास के कथनानुसार वे उन मूर्ख पुरुषों में से एक न थे जो अपने प्रियजन की मृत्यु को हृदय में चुभे शल्य

सा समझते हैं, प्रत्युत वे उन विद्वानों में से एक थे जो अपनी स्थिर बुद्धि के कारण प्रीति को इस संसार में मनुष्य को जकड़नेवाली कील समझते हैं और जो प्रियजन का नाश होते ही समझते हैं कि वही कील सुलभतया उखाड़ कर वे संसार-पाश से मुक्त हो गए। यही समझ कर सावजी ने तुकाराम और अपनी माता से तीर्थ करने की अनुज्ञा ली और वे घर से बाहर निकल पड़े। वे फिर कभी घर में आए ही नहीं। ओंकारेश्वर, नागनाथ, वैजनाथ, सोमनाथ, काशी विश्वेश्वर, महाकालेश्वर, गोकर्णेश्वर, केदारेश्वर, त्र्यंबकेश्वर, भीमाशंकर, महाबकेश्वर और रामेश्वर का दर्शन कर वे आखिर वाराणसी जा कर रहे और वहीं उन्हों ने अपना शेष जीवन व्यतीत किया।

पाठक स्वयं इस बात का विचार कर सकते हैं कि पिता और बड़े भाई के छूट जाने पर तुकाराम की क्या अवस्था हुई होगी। जन्म से इन्हें दुःख का नाम भी ज्ञात न था। पर जब वह आया तब इस प्रकार से। दुःख के बाद सुख की प्राप्ति ऐसी मालूम होती है जैसे अँधियारे के बाद रोशनी। पर सुख के अनंतर जब दुःख उठाना पड़ता है, तब तो बड़ी मुश्किल ही है। खरे धीरजवाले पुरुष की परीक्षा इसी समय होती है। तुकाराम जी इस परीक्षा में पूरे धीरज के उतरे। उन्हों ने अपने सब काम बड़ी सावधानी से ठीक-ठीक सँभाले। केवल इतना ही नहीं छोटे भाई कान्होबा का विवाह भी उन्हों ने इसी समय किया। यह विवाह बड़े ही समारोह से किया गया। सचमुच कहा जाय तो तुकाराम जी ने इस विवाह में वाजबी से अधिक-खर्च किया। पर तुकाराम जी करें क्या? वे बेबस थे। पिता के पश्चात् किया हुआ यह प्रथम कार्य। माता कनकाई अच्छे दिन देखी हुई और पत्नी जिजाई तो धनवान की ही पुत्री। सास-बहू दोनों की इच्छा के अनुसार खर्च होता था। स्त्रियों को ऐसे प्रसंगों पर इस बात का विचार थोड़े ही रहता है कि कितना खर्च किया जाय। तुकाराम जी की अवस्था बड़ी कठिन थी। बाप की मृत्यु के बाद माता को कुछ कहना भी ठीक न था और

यदि वे कहते भी तो माता मानती कब ? खर्च करने के विषय में जिजाई की आँखें तो पहले ही से बड़ी थीं। फिर यदि विवाह में फ़जूल खर्च न हुआ हो तो ही आश्चर्य था। और सच पूछो तो संसार से अनभिज्ञ तुकाराम को खुद भी इस बात का ठीक-ठीक पता कहाँ था की कौन-सा खर्च आवश्यक है और कौन-सा व्यर्थ।

जान पड़ता है कि दुनियादारी की बातें मालूम न होने के कारण तुकाराम को भी अपनी सांपत्तिक स्थिति का ठीक-ठीक अंदाज़ न था। क्योंकि अगर यह होता तो दूसरे ही साल और बड़े खर्च का जो काम उन्हों ने किया, वह वे कदापि न करते। यह काम था माता को साथ ले तीर्थ करना। कनकाई को पंढरपुर की यात्रा का आनंद प्रत्यक्ष ही ज्ञात था। नामदेव जी के तीर्थावलि के अभंगों पर से तीर्थ-यात्रा का आनंद उसे शब्दों में भी विदित था। और अब तो क्या ? प्रत्यक्ष पुत्र ही तीर्थयात्रा के आनंद में घर भूला हुआ था। इस अवस्था में अचरज ही क्या यदि तीर्थ नहाने की और देवों के दर्शन करने की अभिलाषा कनकाई के मन में पैदा हो। माता के अनुरोध से मातृ-भक्त तुकाराम महाराज जननी को साथ ले तीर्थ-यात्रा के लिये निकले। सब से प्रथम समुद्र-मार्ग से वे द्वारका गए। वहाँ भगवानके दर्शन कर गोदावरी तीर नासिक-क्षेत्र आए। पास ही त्र्यंबकेश्वर में निवृत्तिनाथ जी के समाधि-स्थान का दर्शन किया। आगे चल कर गोदावरी तीर पर ही पैठण पहुँच और श्री एकनाथ जी के समाधि-स्थान पर उन्हों ने पूजा चढ़ाई। फिर मुक्ताबाई का समाधि-स्थान माणगाँव में देख कर वे देवगिरी गए जहाँ उन्हों ने एकनाथ जी के गुरू जनार्दन स्वामी की समाधि देखी। ऐसे घूमते-घामते तीर्थराज प्रयाग पहुँचे। यहाँ के गंगा-यमुना संगम में स्नान कर कौन पुनीत न होता ? त्रिवेणी के तट पर कुछ दिन ठहर श्री तुकाराम महाराज गया पहुँचे और विष्णु पद पर पितरों के नाम पिंड दे कर उन के ऋणों से मुक्त हुए। सब से अंत में वे काशी गए और मणिकर्णिका का स्नान कर श्री विश्वनाथ की उन्हों

ने पूजा की। इस प्रकार यह लंबी यात्रा समाप्त कर और पास जो कुछ पूँजी थी वह खर्च कर सन् १६२७ के अंत में वे देहू लौटे और फिर से अपना काम संभालने लगे।

महाराष्ट्र के छोटे-छोटे गाँवों की साहूकारी बड़ी कठिन है। थोड़े दिन भी दूकान बंद रहे तो दूसरा कोई उसके स्थान में जम जाता है। यहाँ के सामान्य लोग बहुत ग़रीब होते हैं इस कारण साहूकार के बिना उन का चलता ही नहीं। इस लिए थोड़े दिन की अनुपस्थिति भी साहूकार के लिये बड़ी हानिकारक होती है। फिर उपर्युक्त लंबी यात्रा के लिए जो दीर्घकाल लगा उस के बाद यदि तुकाराम को अपनी दूकान बिगड़ी मिली तो आश्चर्य क्या! फिर भी बड़ी दूकानदारी करनेवाले लोगों को एक यह भी आपत्ति रहती है कि उसी स्थान पर वे छोटी-सी दूकान नहीं चला सकते। ऐसा करने में लोक-लाज आड़ आती है। तुकाराम जी को यद्यपि जान पड़ा कि अपनी सांपत्तिक-स्थिति बिगड़ी है, तथापि वे करें क्या? बीस साल की उम्र, दुनियादारी के दाँवपेंच से बिल्कुल अनजान, सचाई की घर की नसीहत और आदत और जिस वृत्ति में पद-पद पर झूठ का काम पड़े ऐसे खोटे लोगों से भरी वैश्य-वृत्ति। उन का जी अकुला उठा। बाहर की बनी-बनाई बात सँभालने के लिए अंदर की बात बिगड़ने लगी। घर के गहने बाज़ार देखने लगे। उसी में दैव भी प्रतिकूल हो गया। काल फिरता है तो सभी बातें फिरती हैं। खेती के बैल मर गए और एक-दो अच्छे देनदारों की मृत्यु हुई। जो काम हाथों में लें उसी में घाटा पड़ने लगा। अंत में क़र्ज़ा निकालना पड़ा। ससुरे की सिफ़ारिश से कर्ज़ा निकाला, पर कुछ नहीं हुआ। जिधर देखो उधर नुकसान ही नुकसान नज़र आने लगा। दुनिया तो दुरंगी ही ठहरी। जो लोग कुछ साल पूर्व तुकाराम जी की तारीफ़ करते थे वे ही अब उन का मज़ाक उड़ाने लगे। लेनदारों का भरोसा उठ गया और सबों ने अपने-अपने क़र्ज़े की रक़म माँगना शुरू किया। सबों को एक ही समय दिया कहाँ से जाय? अंत में एक

दिन दिवाला निकला। हाय! दिवाले से बढ़ कर इज्जतदार आदमी को दूसरी कौन-सी बात दुखदाई हो सकती है? इससे तो मौत भी बेहतर। असली मौत तो केवल देह को ही बिगाड़ती है पर यह मौत तो केवल शरीर से भी भली कीर्ति को भी कलंकित कर देती है। हो गया, तुकाराम का संसार सुख इस प्रकार समाप्त हुआ!

चतुर्थ परिच्छेद : तुकाराम विरक्त कैसे हुए ?

दुख विरक्ति का मूल है, शाखा पश्चात्ताप ।
ईश भक्ति का पुष्प है, फल है मुक्ति अपाप ॥

गत परिच्छेद में हम लिख चुके हैं कि तुकाराम महाराज की दूकान का दिवाला कैसे निकला । जो लोग पहले ही तुकाराम की निंदा करते थे, उन के बोलने की तो अब सीमा न रही । तुकाराम जी को मुँह दिखलाने के लिए भी स्थान न रहा । दुनिया की अनेक आपत्तियों में 'सब से प्रबल जाति अपमाना' की आपत्ति से तुकाराम महाराज के सांसारिक दुःखों का आरंभ हुआ । यहाँ से उन की दुःख-परंपरा बढ़ती ही गई और इसी कारण तुकाराम जी का मन संसार से ऊब उठा और उन्हों ने परमार्थ का पंथ ग्रहण किया । ये दुःख यदि उन पर न आते, तो तुकाराम का जीवन अन्य सामान्य मनुष्यों की नाईं व्यतीत होता और आज जो महाराष्ट्र भर में इन के नाम का डंका बज रहा है, वह न बजा होता ।

दुःख में एक बड़ा भारी गुण है । वह सुख की निःसारता दिखाता है । जिस सुख के लिए मनुष्य का मन छटपटाता है, जिसे मिलाने के हेतु वह दिन की रात और रात का दिन करता है, वह सुख शाश्वत नहीं है । प्रायः वह सुख मिलता ही नहीं और यदि मिलता है तो उस के उपभोग के आनंद की इंद्रियों को प्राप्ति होते-होते ही वह अदृश्य होने लगता है । संसार के सुखों की निःसारता इस प्रकार समझ पड़ती है और निःसारता समझने से उन के प्रति आसक्ति नहीं रहती । ऐसे असार सुख मिलाने के लिए फिर मनुष्य भले-बुरे काम करने को तैयार नहीं होता अर्थात् उन के विषय में विरक्ति उत्पन्न होती है । वह

विरक्ति हर एक मनुष्य के जीवन में एक न एक समय अवश्य उत्पन्न होती है। केवल दुःख की बात यही है कि यह भावना बहुत काल ठहरती नहीं। अमलतास के मीठे बीज खा कर जुलाबों से पीड़ित बंदर की तरह मनुष्य ये बुरे काम न करने का निश्चय प्रति दिन करता है, परंतु इंद्रियों का और उन के उपभोग विषयों का सन्निकर्ष होते ही धीरे-धीरे अपना निश्चय भूल कर फिर वही कर्म करने लगता है। वैराग्य इस प्रकार उपजता है और फ़ौरन ही नष्ट भी होता है। जो सत्पुरुष दुःख के कारण से पूरे-पूरे विरक्त हो जाते हैं और फिर कभी उन सांसारिक सुखों की ओर ज़रा भी नहीं देखते, वे ही श्रीतुकाराम महाराज की-सी संसार में प्रसिद्धि पाते हैं और उन्हीं के चरित्र-चित्रण के हेतु लेखकों की लेखनी अपना मुँह काला कर के भी लेखन में प्रवृत्त होती है।

दिवाला निकलने के दुःख में तुकाराम महाराज दुःखी अवश्य हुए पर सांसारिक सुखों की ओर से पूर्णतया मुँह मोड़ने के लिए केवल इतना ही दुःख पूरा न पड़ा। आज तक क्या कम लोगों के दिवाले निकले हैं, या आज भी हर साल सैकड़ों लोग क्या अपना दिवाला नहीं निकालते ? पर इन के पैसे के दिवाले के साथ ही इन की सारासार-बुद्धि या विवेक का भी दिवाला निकल जाता है। तुकाराम महाराज का दिवाला निकालने में उन का दोष बहुत ही कम था। उन्हों ने अपना कर्तव्य-पालन करने में त्रुटि न की थी। इस लिए दिवाला निकलने बाद फिर से वे छोटी-सी दाल-आटे की दूकान ठाट कर अपना काम करने लगे। इस के बाद की आपत्तियाँ यदि उन पर न गिरतीं तो बहुत संभव था कि अपनी मिहनत और सचाई से वे अपनी पूर्वस्थिति शीघ्र ही प्राप्त कर लेते। परंतु दूसरे ही साल उन पर एक ऐसा संकट आया जिस के कारण अपनी बिगड़ी गृहस्थी सुधारने की उन की आशा मूलतः नष्ट हो गई और उन का चित्त सांसारिक सुखों से पूर्णतया उठ गया।

यह आपत्ति एक घोर अकाल के रूप में आई। जिस साल उन का दिवाला निकला था उसी साल बरसात बहुत कम हुई। इस लिए सभी चीज़ें महँगी हो रही थीं। पर दूसरे साल अर्थात् सन् १६३० में मेघराज ने अपनी आँखें बिल्कुल ही मूँद लीं जिस कारण से महाराष्ट्र भर में हाहाकार मच गया। यह वर्ष महाराष्ट्र के इतिहास में बड़े भारी अकाल के कारण प्रसिद्ध है। उस साल बारिश बिल्कुल ही न हुई। हरे घास का दर्शन भी दुर्लभ हो गया। जानवर मरने लगे। जो कुछ बचे उन में हड्डियों के सिवाय और कुछ न बचा। पानी पीने के लिए भी पर्याप्त न रहा। अनाज का भाव एक होन को चार सेर यानी आज के हिसाब से रुपया सेर हो गया। अनाज के दाने-दाने के लिए लोग तरसने लगे। रोटी के टुकड़े के लिए जानवर बेचे गए। मवेशियों की तो बात ही क्या, हज़ारों माताओं ने अपनी गोद के बच्चे तक बेंच डाले। सब तरह के फल और मूल कूट-कूट कर आटे में मिलाए गए। और तो क्या, हड्डियों को भी कूट-कूट कर लोगों ने आटे में मिलाया। अबदुल हमीद लाहौरी अपने बादशाहनामे में इस अकाल का बयान करते हुए लिखता है कि "आखिरकार अकाल इस हद को पहुँचा कि आदमी आदमी को खाने लगे। पुत्र-प्रेम छोड़ कर अपने बच्चों को खाने में भी लोगों ने कमी न की। जिधर देखें उधर लाशों की ढेर नज़र आने लगी।" श्रीसमर्थ रामदास स्वामी जी ने भी इस दुर्भिक्ष का यों वर्णन किया है कि "ज़मीन के सिवाय और कुछ बाक़ी न बचा। (अर्थात् ज़मीन पर जितनी चीज़ें दीखतीं, वे सब लोग खा जाते; केवल मिट्टी बाक़ी बचती।) लोग अपना स्थान छोड़ कर भागे। जो वहीं रहे, उन में से हजारों जगह की जगह पर ही मर गए। कुछ लोग स्वधर्म छोड़ विधर्मी बन गए। कई ज़हर खा कर और कई पानी में डूब कर मर गए। प्रेतों को न कोई जलाता न लाशों को कोई दफ़नाता। वैसी की वैसी ही पड़ी रहती।" उपर्युक्त वर्णनों से पाठक स्वयं इस भयंकर दुर्भिक्ष की संभावना कर सकते हैं।

इस भयंकर अकाल में तुकाराम के दुःख की सीमा ही न रही। जहाँ बड़े-बड़े साहूकारों की दुर्दशा हो गई, वहाँ बेचारे दाल-आटा बेचने वाले तुकाराम की बात ही क्या ? दिवाला निकल जाने से बाज़ार में उस की साख तो थी ही नहीं। अब तो उसे कोई अपने दरवाज़े पर खड़ा न करता। बाहर इज्ज़त नहीं, घर में खाने के लिए दाना नहीं। इस दुर्दशा में तुकाराम का सब कुटुंब था। उस की प्रथम पत्नी रखुमाई सब से पहले भूख से मरी। पहले ही साँस की बीमारी से वह जर्जर थी। वह जानती थी कि उस के पास से तो तुकाराम को सुख की प्राप्ति थी ही नहीं, केवल था तो उस का भार ही तुकाराम के सिर पर था। एक पुत्र-रत्न दे कर वह पति के ऋण से मुक्त हो चुकी थी। इस लिए बहुत संभव है कि घर में जो कुछ दाना आता हो वह सब दूसरों को विशेषतः छोटे संताजी को दे, वह ख़ुद भूखी रहती होगी। अंत में बेचारी ने एक दिन राम कह दिया। तुकाराम को पत्नी की इस मौत से बड़ा भारी दुःख हुआ। रखुमाई यद्यपि रोगिणी थी, तथापि स्वभाव से बड़ी सरल और मधुर थी। तुकाराम की उस पर बड़ी प्रीति थी। इस अकाल में तुकाराम ने उस की जो पुत्र-प्रीति देखी, उस का वर्णन उन्हों ने एक अभंग में किया है। वे कहते हैं, "लड़का माता के प्रति निष्ठुर होता है, पर वह उस की ओर प्रेम से ही देखती है। खुद प्यास-भूख सब सहती है, पर उस को संतुष्ट रखती है। उस के दुःख से घबरा कर अपनी जान देना चाहती है, और उस के नाम से दौड़ आ कर अपने प्राण छोड़ देती है।"

रखुमाई की मृत्यु के बाद संताजी के विषय में तुकाराम को बड़ी चिंता आ पड़ी। मातृ-हीन बच्चे को सँभालना सुलभ काम नहीं था। दिन भर तो किसी न किसी प्रकार कुछ न कुछ खाने को जुटाने की चिंता और रात में संताजी को सँभालने की फ़िक्र। लड़का हमेशा माँ का नाम ले कर रोता और तुकाराम के गले लग कर माँ के पास ले

जाने का हठ धरता। इतने छोटे बच्चे की समझ ही क्या? अगर कोई कहता कि 'माँ देव के घर गई' तो वह भी कह उठता कि 'मुझे भी वहीं ले चलो'। पर कोई उसे ईश्वर के यहाँ ले कैसे जावे? उस के दुख को देख और माता के बिना उसे छटपटाता देख तुकाराम जी का मृदु-हृदय पानी-पानी हो जाता। अंत में ईश्वर को ही उस पर दया आई और वही उसे माता की भेंट करने के लिए उठा ले गया। अब तो तुकाराम के दुःख का ठिकाना न रहा। तुकाराम का प्रेम इन्हीं माँ-बच्चे पर था। माँ के मरने से दुःख हुआ ही था, पर अब बच्चे के मरने से तो मानों जीवन-सर्वस्व ही नष्ट हो गया। जिस के हाथों से अपनी उत्तर-क्रिया की आशा करनी चाहिए उसी पुत्र का अंत्यविधि करने का प्रसंग तुकाराम पर आया। तुकाराम जी के धीरज की मानो ईश्वर सब प्रकार से परीक्षा ले रहा था।

कहते हैं कि मनुष्य पर जब संकट आ गिरते हैं, तब वे एक साथ ही आ गिरते हैं। प्रिय-पत्नी और प्राणों से भी प्रिय-पुत्र का दुःख तुकाराम जी भूले भी न थे कि काल-पुरुष ने इन पर और एक आघात किया। जो तुकाराम को ईश्वर-स्वरूप थी, जिसे संतोष देने के लिए तुकाराम दिन-रात यत्न करते थे, जिस ने उन का सब प्रकार पालन-पोषण किया था, जिस से विठ्ठल-भक्ति का आनंद प्राप्त होता था और जिस की सेवा तुकाराम अपना परम धर्म समझते थे, वह उन की प्रिय माता कनकाई उन्हें छोड़ स्वर्गलोक सिधारी। इस प्रकार एक वर्ष के भीतर तुकाराम के घर में तीन मौतें हुईं। इस का परिणाम यह हुआ कि मानवी जीवन की नश्वरता तुकाराम भली-भाँति समझ गए। ईश्वर की भी मानो यही मनीषा थी। क्योंकि इस के बाद तुकाराम के जीते जी उन के घर में एक भी मृत्यु न हुई। इन सब दुःखों का असर नष्ट होने के बाद, इस जीवन-विभाग का सिंहावलोकन करते हुए तुका-राम जी के मुख से एक अभंग निकला, जिस में आप ने इन सब मौतों का उल्लेख कर यह दिखाया है, कि हर एक मृत्यु का उन के मन पर

क्या परिणाम हुआ था। आप कहते हैं, "जब पिता जी मरे, तब तो मुझे न कुछ ज्ञान था न संसार की कुछ फ़िक्र थी। स्त्री मरी तो बेचारी मुक्त हो गई। ईश्वर ने मेरा प्रीतिपाश छुड़ाया। लड़का मरा तो उस से भी अच्छा हुआ क्योंकि उस से मैं पूरा-पूरा प्रीति-रहित हो गया। जब अंत में मेरे देखते-देखते माता भी मर गई, तब तो सारी ही चिंता दूर हो गई। विठोवा, अब तो राज्य केवल तुम्हारा हमारा ही है। यहाँ अब दूसरे किसी का काम नहीं है।"

इस प्रकार पाँच ही साल के भीतर तुकाराम जी के सब सांसारिक दुःखों की होली जल गई। जिस तुकाराम को अपनी उम्र के सोलहवें वर्ष तक दुःख की झलक भी न लगी थी, वही तुकाराम पाँच वर्षों में सब प्रकार के सांसारिक तापों से जल उठा। द्रव्य और मनुष्य दोनों की हानि हुई। पैसा गया, इज्ज़त भी गई और पिता, पत्नी, पुत्र और माता सदा के लिए ही छोड़ गई। घर में केवल तुकाराम और उन की दूसरी स्त्री जिजाई तथा कान्होवा और उन की स्त्री—इतने ही लोग रह गए। तुकाराम पर प्रेम करने वाला कोई न रहा। यदि जिजाई मृदु-स्वभाव की तथा प्रेमभरी होती, तो इस समय वह तुकाराम को अपनी मधुर, रसभरी वाणी से समझाती और संसार से कँदराया हुआ तुका-राम का मन पुनश्च संसार की ओर खींच लाती। पर जिजाई का स्वभाव बड़ा मानी, तीखा और कठोर था। धनी पिता की पुत्री और अपनी अपेक्षा ग़रीब घर में व्याही हुई। जिजाई को प्रतिक्षण पिता के घर के सुखों की याद आती और साथ ही इस घर के दुःख दीखते। मन ही मन इन दुःखों की वह तुलना करती और विचार करती कि ये दुःख के दिन कैसे मिटें, और फिर सुख कैसे मिले। तुकाराम का चित्त संसार से उठता हुआ देख वह बड़ी दुःखी होती। इसी दुःख से वह तुकाराम को कठोर बातें कहती। हेतु यह कि तुकाराम का चित्त ठिकाने पर आवे। पर इस की कर्ण कटु बातें सुन उन का जी बहलने के बजाय अधिक ही बहकता। स्त्री के तीखे भाषण सुन तुकाराम मन में

बड़े दुखी होते और विट्ठल-विट्ठल कहते बैठ जाते। श्रीविट्ठल के चरणों पर उन का मन एक-सा आसक्त कराने का पुण्य अधिकांश में जिजाई ही को है। कई बार जिजाई के हृदय-भेदी शब्दों के कारण वे लजाते और धीरज बाँध कुछ न कुछ करने का निश्चय करते।

अंत में दूकान का काम कान्होबा के सुपुर्द कर, स्वयं एक व्यौपारी का गल्ला दूसरे गाँव को पहुँचाने का काम तुकाराम जी ने करने का निश्चय किया। बैलों पर बोरियां लादी गईं और बैलों को हाँकते-हाँकते तुकाराम महाराज घर से निकले। आखिरी दिन समय काटने के हेतु श्रीविट्ठल का भजन गाना शुरू किया और गाते-गाते उसी में तुकाराम महाराज की लौ लग गई। पर इतने में या तो कोई एक बैल पर की बोरियाँ उड़ा ले गया या बैल ने ही वे कहीं गिरा दीं। मुक़ाम पर पहुँच कर देखने लगे तो एक बैल खाली। माल पहुँचाने का भाड़ा मिलने के बजाय उलटे बोरियों के दाम ही गाँठ से देने पड़े। बाहर लोग इन की बेवक़ूफी की और इस विट्ठल-भजन की हँसी उड़ाने लगे और घर में जिजाई जान खाने लगी। तुकाराम ने निश्चय किया कि अब ऐसी गाफ़िली न करनी चाहिए। पर अब इन्हें माल पहुँचाने के लिए देवे कौन? आखिर एक बार इधर-उधर से थोड़ा पैसा जमा कर इन्हों ने मिरच खरीदी और घाट के नीचे कोंकण में बेचने ले गए। कोंकण प्रांत महाराष्ट्र में सब से निर्धन है। सिवाय चावल के यहाँ और कुछ नहीं होता और वह भी इतना कि मुश्किल से छः महीने पूरा पड़े। बाक़ी सब माल घाट पर से ही आता है। ऊपर का माल नीचे कोंकण में ले जा कर बेचने का काम हज़ारों घाटी लोग करते हैं। पर कोंकण के लोगों से व्यवहार करने में बड़ी चतुरता चाहिए। उन्हें तो एक-एक पैसा बड़ी क़ीमत का होता है और इसी कारण पैसे-पैसे का फ़ायदा वे ताकते रहते हैं। तुकाराम-सा सीधा-सीधा आदमी उन के साथ व्यव-हार कैसे करे! इन से मिरच का भाव पूछा गया। सचाई से दूकान-दारी करने वाले तुकाराम महाराज ने सब भाव बतलाया। खरीददार

फ़ौरन ताड़ गया कि मामला पोला है। घाट ऊपर की तौल और कोंकण की तौल में फ़रक रहता है। भाव और तोल दोनों में घोल दे कर उस उस्ताद ने इन्हें खूब ही फँसाया। साथ ही जो क़ीमत देनी थी वह नक़द होनों में न दे सोने के रूप में दी। समझाया गया कि होनों की अपेक्षा उसी कीमत का सोने का कड़ा ले जाना कम धोखे का है। सीधे तुकोबा इस बात को मान सोने का कड़ा ले घर आए। पर देखते हैं तो कड़े का ऊपरी भाग सोने का पर भीतर भरा पीतल। इस प्रकार इस व्यवहार में भी फ़ज़ीहत के सिवाय कुछ हाथ न लगा। जिजाई ने वाक्पुष्पों से महाराज की खूब पूजा की और उन्हें कई नेपथ्य पाठ पढ़ाए।

थोड़े ही दिनों में तुकाराम जी के एक लड़की हुई। उस का नाम काशी रक्खा गया। काशी का जन्म पूने में अपने नाना के घर में हुआ। वहाँ तुकाराम के विषय में पिता-पुत्री में कई बातें हुई होंगी। अप्पाजी तो तुकाराम के विषय में बिल्कुल निराश ही हो बैठे थे। वे जान चुके थे कि सांसारिक बातों में जमाई पूरे बे-अक़ल हैं। पर उन के सामने जिजाई यह बात कैसे मानती? वह स्वयं तुकाराम को मन-माना कहती पर दूसरों के, खासकर मायघर के लोगों के वे ही शब्द उसे बुरे लगे। तुकाराम की तरफ़दारी उस ने की; घर की कठिनाइयाँ बखानीं। अंत में पिता ने व्यापार करने के लिए जिजाई के नाम से दो सौ होन क़र्ज़ा दिए। जिजाई ने घर आने के बाद तुकाराम को बहुत कुछ समझा बुझाकर उस मूलधन का नमक खरीदा और तुकाराम को दूर कर्नाटक की ओर वह नमक बेचने भेजा। फिर से एक बार तुकाराम नमक लाद कर निकले। इस समय बड़ी सावधानी से तुकाराम जी ने वह नमक बेच कर सवाई मुनाफ़ा मिलाया! दो सौ का माल ढाई सौ में बेचा बड़ी खुशी में आनंद से विट्ठल का भजन करते-करते लौटे। रास्ते में एक जगह एक ग़रीब ब्राह्मण इन्हें मिला और उसने इन्हें अपनी करुण कहानी सुनाई। उसकी दुःख-पूर्ण कथा सुन कर इनका

हृदय पसीज उठा। इन्हों ने स्वयं दुःख का पूरा पूरा अनुभव लिया ही था। इसी कारण उस के दुख से ये दुखी हुए और पास का धन बहुतांश में उस की आपत्ति दूर करने के लिए उसे दे दिया। घर आते समय फिर कोरे के कोरे रहे। जिजाई से सब हाल विस्तार-पूर्वक कह सुनाया। आप समझते थे कि वह भी यह बात पसंद करेगी। इस समय तो वे फँसे नहीं थे। कुछ खो भी नहीं आए थे प्रत्युत सत्पात्र को दान दे पुण्य ही जोड़कर आए थे। पर जब जिजाई की भली बुरी बातें सुनी तब आप समझे कि वह कृत्य जिजाई को पसंद न आया। जिजाई का भी क्या दोष था? और किसी का देना होता तो और बात थी। पर यह था बाप का देना। स्त्री को सब से बड़ा दुख होता है मैहर में अपने पति की बुराई सुनने का। अपने घर तो वह खुद मज़दूरी भी करती, पर घर की बात न खोलती थी। उस में भी इस समय डींग मार पिता के पास से पैसे वह लाई थीं। उस ने तुकाराम को खूब ही बातें सुनाईं तुकाराम भी गुस्से में आ गए और दोनों पति-पत्नी का खूब झगड़ा हुआ। फल यह हुआ कि तुकाराम पूरे-पूरे विरक्त बन, घरवालों के विष में बेफ़िक्र बन गए।

तुकाराम महाराज ने अपने एक अभंग में इन सब बातों का जिन के कारण उनका चित्त ईश्वर-भजन में स्थिर हुआ, यथायोग्य वर्णन किया है। तुकोबा कहते हैं "हे देव विट्ठल, बहुत अच्छा हुआ कि दिवाला निकल गया, बहुत अच्छा हुआ कि दुर्भिक्ष के कारण इतना दुःख हुआ। बड़ा भला हुआ कि स्त्री कर्कश स्वभाव की मिली, भला हुआ कि लोगों में फ़जीहत हुई। बड़ा अच्छा हुआ कि संसार में अपमान हुआ, अच्छा हुआ कि द्रव्य, पशु सब का नाश हुआ। ठीक हुआ कि लोकलाज की परवाह न की और भली भाँति तेरी शरण आया। इन सब दुखों के कारण जो पश्चात्ताप हुआ उसी से तेरा चिंतन एक-सा करता रहा और उसी के कारण यह संसार थूक-सा जान पड़ा।"

यहाँ पर तुकाराम के एक विशेष स्वभाव पर ध्यान देना अनुचित न होगा। इस का ज्ञान होने के कारण तुकाराम के चरित्र पर कई लोगों की ओर से विसंगति का दोष लगाया जाता है। कई पाठकों को यह देखकर आश्चर्य मालूम होता है कि जिस तुकाराम का हृदय पराई पीर से दुखता था वही तुकाराम अपनी स्त्री के तथा पुत्रों के दुःख की ओर दुर्लक्ष कैसे कर सकता था। जो तुकाराम कामादि षड्-विकारों को जीत चुका था उसी को एक के पीछे एक छः अपत्य कैसे हुए। तुकाराम का सब से छोटा पुत्र तो इन के निर्वाण के बाद ही पैदा हुआ था। जो तुकाराम अपने शत्रुओं को भी दुरुत्तर करना उचित न समझता था, वही तुकाराम अपने अभंगों में बिल्कुल ग्राम्य और अश्लील शब्दों से अभक्त तथा दुराचारी लोगों को सीधी गालियाँ कैसे सुनाता था। इन सब बातों में से एक भी बात मिथ्या नहीं। पर इस की तुकाराम के टीकाकारों की-सी न तो निंदा करने की आवश्यकता है, न भक्तों का समर्थन करने की। इस ऊपरी विसंगति का कारण तुकाराम जी के स्वभाव में है। उनका स्वभाव विचार-प्रधान न था, किंतु भावना-प्रधान—अत्युत्कट भावना-प्रधान था। जो भावना जिस समय प्रबल होती थी उसी के अनुसार इनका वर्तन होता था। पिता को संतुष्ट करने की भावना जब प्रबल थी तब अपने छोटे वय का विचार न कर उन्हों ने संसार का भार अपने सिर ले लिया। माता को संतुष्ट करने की भावना में कान्होबा का विवाह तथा काशी-यात्रा में चाहे जितना रुपया खर्च करने में कुसूर न किया। उस समय यह विचार कि आगे क्या होगा इनके हृदय को स्पर्श भी न कर सका। जब तक कान्होबा छोटे थे और सब का भार सिर पर होने की भावना प्रबल थी सब प्रकार के दुःख सहन किए और स्त्री की भी भली-बुरी बातें सुन लीं। पर जिस समय यह भावना उठी "कि अब इतना दुख सहने की आवश्यकता नहीं, कान्होबा सब सँभाल सकेंगे, मुझसे ये सांसारिक काम ठीक न होंगे, बेहतर है कि अब ईश्वर भजन ही करें" उठे और

चल दिए। तुकाराम के चरित्र का यह रहस्य है और यह उनके चरित्र के पद-पद पर दिखाई देता है। इस में संदेह ही नहीं कि तुकाराम महाराजा ने काम-क्रोध लोभादि षड्रिपुओं पर विजय प्राप्त कर लिया था। पर इस का यह अर्थ न समझना चाहिये कि उन के ये विकार पूर्णतया नष्ट ही हो गए थे। जिस समय ये महाराज उन से लड़ने के लिए खड़े रहते अर्थात् यह निश्चय ठानते कि फ़लाँ विकार इस समय मन में न आवे, क्या मज़ाल था उस विकार की कि वह उन के सामने दिखाई भी दे। किंतु अन्य समय जब कि इनके प्रादुर्भाव से कुछ कुपरिणाम होन का संभव न था वहाँ पर ये उन को ओर दुर्लक्ष्य करते और उन्हें अपना कार्य करने देते।

तुकाराम महाराज ने अपना यह अन्योन्य विरुद्ध स्वभाव एक अभंग में बड़े अच्छे प्रकार से वर्णन किया है। आप कहते हैं—"हम विष्णुदास मोम से भी मुलायम हैं पर वज्र से भी कठिन हैं मरे भी हम जिंदा हैं और सोते भी जागते हैं। जो पुरुष जो वस्तु हमसे माँगे उसे हम वही दें। भलाई के साथ कोई चाहे तो हमारे कमर की लंगोटी भी खोल ले पर कोई बदमाशी करे, तो उसे लाठी भी फटकारें। मा-बाप से भी अधिक प्रेम करें, पर साथही शत्रु की अपेक्षा भी अधिक घात करें। हमारी अपेक्षा न तो अमृत अधिक मीठा होगा, न ज़हर ज़्यादा कड़वा। हैं तो हम सिर से पैर तक मीठे, पर जो जिस की इच्छा हो, वही वहाँ पूरी होगी। भावना-प्रधान पुरुष का यही लक्षण है। जो धुन उस के मन में सवार होती है, उसी के अनुसार वह चलता है। प्रायः सभी बड़े-बड़े लोग भावना-प्रधान ही होते हैं। आचार-प्रधान मनुष्य सामान्य कोटि का होता है। वह न इस सिरे पर जाता है न उस सिरे पर। मामूली लोगों का-सा साधारण कार्य किए जाता है। पर भावना-प्रधान भर्तृहरि के कथनानुसार या तो लोगों के सिर पर विराजते हैं या दुनिया के पैरों से कुचले जाते हैं। भगवान् रामचंद्र के विषय में यह देखिए कि जिस सीता के लिए वे बन-बन रोते फिरे, उसी का त्याग करने में भी

उन्हों ने कमी न किया, और त्याग करने के बाद भी उन्हीं का शोक करते रहे, वासंती के मुख से भवभूति ने कहलाया है कि लोकोत्तर पुरुषों के चित्त कौन जान सकता है ? वे वज्र से भी कठिन पर कुसुमों से भी कोमल होते हैं। ठीक यही हाल तुकारामादि सत्पुरुषों का है। जब तक ठीक, पर जब छूटके तो ऐसे कि घर से बाहर निकल गए।

तुकाराम महाराज घर से निकले, तो सीधे इंद्रायणी के उत्तर आठ मील दूरी पर जो भामनाथ का पहाड़ है, वहाँ जा बैठे। वहाँ एकांत में विचार किया कि "इस कुटुंब की सेवा-चाकरी करते-करते सांसारिक दुःखों से खूब तपा, पर यह न समझा कि इन से कैसे छुटकारा पाऊँ। भीतर बाहर जहाँ देखता हूँ, वहाँ चोर ही चोर नज़र आते हैं। अर्थात् सब अपना ही फ़ायदा तकते हैं, मुझ पर दया कोई भी नहीं करता। एक दो नहीं कई दिन इन लोगों ने मुझ से मिहनत कराई और मुझे लूटा। मैं तो अब बिल्कुल घबरा गया हूँ। इस लिए हे पांडुरंग, अरी मेरी माँ, अब तो तुम्हारे ही चरणों की याद कर तुम्हारे ही शरण आया हूँ। अब तो तुम्हें ही मुझे उबारना होगा, क्योंकि दोनों को तारने का तुम्हारा प्रण है।" भामनाथ पर पड़े-पड़े तुकाराम जी एकांत में पंद्रह दिन इसी का विचार करते रहे। अंत में उन्हें समझ में आया कि "संसार खोटा है। जब तक उन से लोगों को सुख-प्राप्ति की आशा है, तब तक उन्हें यही तकलीफ़ बनी रहेगी। पर यदि वे एक बार इस पाश को तोड़ डालें तो न किसी बात की झक-झक पीछे रहेगी, न सिर पर कुछ भार रहेगा। अब तो यही समझना ठीक था कि सब ठीक-ठाक हो गया और यह बलाय टल गई। एक बार इस प्रकार का निश्चय हो जाने पर कि इस संसार की ओर फिर से न फिरेंगे, आप का निश्चय कौन फेर सकता था ?

इधर जिजाई भी कुछ कम न थी। वह बोलने में फटफटी थी पर साथ ही पतिव्रता भी थी। तुकाराम महाराज के चले जाने पर उसे बड़ी बेचैनी हुई। प्रायः भड़-भड़े लोगों की यही हालत होती है। मन

में जो आया फड़-फड़ बोल डाला पर पीछे कुछ नहीं। बादल आए, बरस गए, फिर आकाश साफ़ का साफ़। जिजाई का वह स्वभाव उस के जन्म भर रहा। वह तो भोली-भाली सांसारिक स्त्री थी। उसे न तो तुकाराम की भगवद्भक्ति समझ में आती थी न उन का परोपकार। वह तो एक मात्र यह जानती थी कि उस पड़ोसियों का संसार जैसे होता था, वैसे उस का होना चाहिए। पिता के घर म जिस सुख में वह थी, उसी प्रकार के सुख की वह तुकाराम से आशा करती थी। उस सुख की प्राप्ति न होती देख उस का जी जलता और वह तुकाराम से खूब लड़ती। हेतु यह कि तुकाराम महाराज भी अन्य ससांरी पुरुषों की तरह संसार के धंधे अधिक सावधानी से करें। पर तुकाराम के प्रति उस की भक्ति कम न थी। वह भी पराकोटि की थी। विसंगति की दृष्टि से देखा जाय तो जिजाई के ही स्वभाव में वह दोष अधिक था। इधर खूब मनमाना बोलना और इधर तुकाराम भूखे रहें, तो स्वयं भी भूखा रहना। यह क्रम उस साध्वी का आखीर तक रहा। इस लिए तुकाराम के निकल जाते ही वह बड़ी बेचैन हुई। वह जानती थी कि तुकाराम के पास खाने-पीने के लिए या ओढ़ने-पहिनने के लिए कुछ न था। इस कारण उसे बड़ी चिंता पड़ी और उस ने तुकाराम जी को सब जगह तलाश करवाया। इंद्रायणी का तीर, बल्लाल का बन, भंडारा और गोराडा पहाड़ सब स्थान ढुँढ़वाए। अंत में भामनाथ पर तलाश करने के लिए कान्होबा को भेजा। कान्होबा से और तुकाराम से भेंट हुई। बड़े भाई ने अपना निश्चय प्रकट किया। यह सोच कि इस समय बोलने में कुछ लाभ नहीं, कान्होबा चुप हो रहे और उन्हें घर ले आए। जिजाई को आनंद हुआ।

कुछ दिन ऐसे ही गए। अब तुकाराम रहते तो घर में पर वे घर का काम कुछ न करते! उनका कार्य-क्रम अब निश्चित-सा ही था। प्रातः काल उठ कर श्रीविट्ठल का पूजन करना, कहीं एकांत स्थल में जा कर ज्ञानेश्वरी या नाथ भागवत का पारायण करना, और रात को

जहाँ-कहीं हरिकीर्तन हो वहाँ जा कर हरिगुण और हरिदासों का प्रवचन सुनना। संसार का अब एक भी काम वे न करते। कुछ दिन जिजाई न बोली। पर धीरे-धीरे फिर बोलना शुरू हुआ। परंतु अब स्थिति पलट गई थी। इस विचार से कि ये फिर उठ कर न चले जावें, वह कम बोलती। इधर तुकाराम को भी अब उस के बोलने से न लज्जा आती न क्रोध। अगर आती तो केवल हँसी। जिजाई भी उन्हें अब और कुछ न कहती। यदि कहती तो बोल्होबा के समय जो लोग इन के यहाँ से क़र्ज़ ले गए थे, उन के यहाँ से केवल कुछ धन वसूल कर लेने को कहती। कभी-कभी तुकाराम यह काम करते भी।

पर यह काम करते हुए इन का मन दुश्चित्त होने लगा। एक तो धन का विचार मन में अधिक आने लगा। दूसरे देनेदार लोग आयें तो उन से मुँह छिपाने लगे या झूठ बोलने लगे। यह देख तुकाराम महाराज के मन में विचार उठने लगे कि "यह काम बड़ा बुरा है। ईश्वर की बजाय धन का चिंतन तो मुझे करना ही पड़ता है, पर साथ ही लोगों को झूठ बोलने में भी प्रवृत्त करता हूँ। देने का अनुभव मुझे भी स्वयं है। क़र्ज़ के बोझ से तो देह भी भारभूत जान पड़ती है ईश्वर ने मुझे देह दिया है। क्या यह मैं ने ईश्वर से उधार नहीं लिया है? क़र्ज़ की अदाई मैं ही कैसे कर रहा हूँ? जब तक मैं स्वयं इस ऋण से मुक्त न हुआ, तब तक लोगों से उन के क़र्ज़ की अदाई माँगने का मुझे क्या अधिकार?" इस प्रकार के विचार प्रबल होते ही तुकाराम जी ने निश्चय किया कि ये सब क़र्ज़खत इंद्रायणी में डुबो दिए जावें। नैराश्य का सुख और आशा का दुःख आप ख़ूब जान चुके थे। इस लिए यह भावना पैदा हुई कि कागज़ पत्र डुबो देने पर अपना किसी पर हक़ ही न रहेगा और फिर यह फ़िक्र कि वह देगा या नहीं, मन को व्यग्र न करेगी। जब जिजाई और कान्होबा ने यह निश्चय सुना तब जिजाई तो कुछ न बोली, पर कान्होबा नम्रतापूर्वक बोले, "दादा आप तो साधु होना चाहते हो। पर मुझे तो अभी घरबार चलाना है। ये

सब कागज़ डुबो कर आप मेरा क्यों नुक़सान कर रहे हो।" कान्होबा की यह बात सुन तुकोबा चुप हो गए। पर अंत में ख़ूब विचार कर यह निश्चय हुआ कि कागज़ दोनों भाइयों में बाँटे जावें। कान्होबा अपने हिस्से के कागज़ अपने पास रक्खें और उन के दाम वसूल करें। उन के बाँटे के कागज़ डुबाने का इन्हें अधिकार न था। पर जो कागज़ पत्र इन के ख़ुद के हिस्से में आवें, उन पर तो इन का पूर्ण अधिकार था। ये चाहें उस का दाम वसूल करें, चाहें उन्हें नदी में फेंकदें। यह सोच कि 'सबों को नहीं तो कम से कम मेरे देनेदारों को मैं ऋण-मुक्त क्यों न करूँ' तुकाराम जी ने अपने हिस्से के कागज़ लिए और उन्हें इंद्रायणी में डुबो दिया। जिजाई ने सोचा कि कहाँ से इन महा-राज को वसूलियत का काम करने को कहा!

अब तुकाराम महाराज के पीछे जंजाल सब छूट गया। न इन से कोई कुछ कहता, न ये किसी से कुछ बोलते। खतों के कागज़ डुबो देने के बाद तुकाराम जी ने कभी धन को स्पर्श ही नहीं किया। यह व्रत उन्हों ने अंत तक निभाया। जब शिवाजी महाराज ने इन्हें बुलाया और इन को लिवा लाने के लिए घोड़ा भेजा और इन्हें कुछ जवाहिर नज़र किया तब भी आप ने वह सब वापस कर जो अभंग श्रीशिवाजी राज को भेजे उन में लिखा कि "धन तो हमें गो-मांस-सा त्याज्य है।" कागज़ डुबो देने के बाद शीघ्र ही तुकाराम महाराज की देहू-वासियों पर छाप पड़ गई। वे इन्हें साधु समझने लगे। कुछ सांसारिक लोग तो अवश्य ऐसे थे जो इन के इस कृत्य को बेवक़ूफ़ी के सिवाय और कुछ न कहते। पर अधिकांश लोगों पर इस का असर अच्छा हुआ। प्रायः जिन लोगों के दस्तावेज़ महाराज ने डुबो डाले थे, उन में से बहुतेरों ने इन का कर्ज़ा अदा किया। किसी न किसी रूप में थोड़ा-बहुत कर, जैसा बना, वैसा उन लोगों ने जिजाई को पहुँचाया। जिजाई ने भी इस के बाद तुकाराम से कोई घर का काम करने के लिए कभी न कहा। वह स्वयं ही सब काम देखने लगी। मन में कुढ़ती तो अवश्य, जब

कभी दुःख असह्य होता तो बोलती भी। पर अब उस बोलने में निंदा का विष भरा न रहता था। अब उस में अपना दुखड़ा रोने का ही सुर रहता। तुकाराम जी ने तो अब इस विषय में चिंता करना ही छोड़ दिया था। उन का तो निश्चय हो चुका था कि जिस ने चोंच दी है, उस ने चुगने के लिए दाना पहले ही पैदा कर रक्खा है। मनुष्य के हाथों में कुछ नहीं; सब दैव पर निर्भर है। "दैव से ही धन मिलता है और दैव से ही मान। प्रारब्ध से ही सुख होता है और दुःख भी प्रारब्ध से ही मिलता है। इस लिए रे मन, इन बातों के पीछे क्यों पड़ा है, तू तो पंढरीनाथ का भजन कर। दैव ही से तो पेट भरता है, और इसी लिए तुकाराम कभी नहीं चिल्लाता।" वे तो अब इन सब बातों से छुटकारा पा चुके थे। उन्हों ने इस के बाद खाने-पीने की कभी पर-वाह न की। जो मिले, उसी पर गुज़ारा किया। अब तो इन का भार स्वयं श्रीविट्ठल ने उठाया था। इन के खाने-पीने की चिंता सदैव जिजाई करती। दोनों बेर जैसा बने, वैसा रूखा-सूखा वह उन्हें खिलाती। ये जब पहाड़ों पर जा बैठते, तब भी इन का खाना स्वयं वहाँ ले जाती या किसी के हाथ भिजवाती। परंतु बग़ैर इन के खाए ख़ुद कभी न खाती।

अब तुकाराम जी को केवल एक ही काम रहा और वह था एक भाव से श्रीविट्ठल का नाम लेना। तुकाराम समझते थे कि नाम ही ईश प्राप्ति का साधन है और नाम ही उस का फल है। दोनों साधन तथा साध्य का मूल्य एक नाम ही वे समझते थे। वही नाम लेते हुए वे बड़ी भक्ति से चिल्लाते 'आ री मेरी माँ, आ री मेरी विठाई'। इस नाम-स्मरण से ही उन को सब कुछ मिला। यह क्या और यह कैसे मिला, इन की साख उन का चरित्र दे रहा है। पाठकों को स्वयं ये बातें धीरे-धीरे समझ में आएँगी। यहाँ पर केवल इतना ही कहना है कि दिवाला निकलने के कारण इन के प्रति जो देहू के लोगों की तिर-स्कार-बुद्धि हो गई थी, वह इंद्रायणी में काग़ज़ डुबाने से बदल गई और वे ही लोग तुकाराम जी की ओर दूसरी दृष्टि से देखने लगे

पंचम परिच्छेद : तुकाराम की साधना

तपबल रचइ प्रपंच विधाता।
तपबल विष्णु सकल जग त्राता ॥
तपबल संभु करहिं संघारा।
तपबल सेस धरहि महि भारा ॥
तप अधार सब सृष्टि भवानी।
करहु जाइ अस तप जिय जानी ॥

वेदांत-शास्त्र में जीवों के चार भेद किए हैं—बद्ध, मुमुक्षु, साधक और सिद्ध। जब तक जीव को यह ज्ञान ही नहीं होता है कि वह संसार के पाशों से बँधा हुआ है, जन्म-मृत्यु के भ्रमण-चक्र में फँसा हुआ है, और सांसारिक क्षणिक सुखों से भिन्न कोई नित्य साधन सुख है, वह बद्ध कहलाता है। ईश्वर की माया ऐसी है कि बहुधा जीवों को यह ज्ञान होने ही नहीं पाता। परवशता में सदियों से पड़े हुए लोगों को जिस प्रकार प्रथम यह ज्ञात ही नहीं होता कि वे पराधीन हैं, परतंत्र हैं, प्रत्युत जिस प्रकार वे उस परवशता के अधीन हो अपनी स्थिति में सुख की नींद सोते हैं, उसी प्रकार अनादि काल से इन संसार पाशों में बँधे जीव को यह ज्ञान ही नहीं होता है कि वह बद्ध है। सांसारिक सुखों में पले हुए जीव को प्रायः यह ज्ञान नहीं होता। परंतु जब सांसारिक दुखों की आँच लगती है, चारों ओर जलते हुए वन में फँसे हरिण की नाईं जब इस जीव पर सभी ओर से दुख आने लगते हैं और उन से छुटकारा पाने का उपाय उसे नहीं सूझती, तभी यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि वह बद्ध है। तब उस की माया-नींद खुलती है। पर नींद के खुलते ही उस की बद्ध दशा नष्ट नहीं होती। केवल यह ज्ञात होने से कि हम पर-वश हैं, पराधीनता की अवस्था से मनुष्य का राष्ट्र नहीं छूटता। उसे इस बात का ज्ञान होना चाहिये कि उसे

क्या प्राप्त करना है। वह जीव जिसे यह समझता है कि वह बद्ध है और उसे मोक्ष प्राप्त करना है, मुमुक्षु कहलाता है। तब उस के मन में इन पाशों से छुटकारा पाने की बुद्धि उदित होती है। यह होते ही जिन बातों को वह अपनी बद्धावस्था में हितकर मानता था, वे ही अब उसे दुखकर और त्याज्य मालूम पड़ती हैं। उसे अब ज्ञान होता है कि सामान्य संसारी जीव जिसे सुख समझते हैं, वह अंत में दुःख ही है और मोक्ष चाहने वाले जिसे सुख समझते हैं वही सांसारिक लोगों की ओर से दुःख माना जाता है। इसी विपरीत बात के विषय में भगवान् कहते हैं कि "सब प्राणियों की रात में संयमी पुरुष जागता है और जिस स्थिति में प्रायः सब प्राणी जागते हैं, आँखें खुला हुआ पुरुष उसी स्थिति में नींद लेता है।" इस दृष्टि-परिवर्त्तन के बाद स्वाभाविकतया ही मुमुक्षु जीव बंधन-कारक बातों को छोड़ मोक्ष-दायक बातों का ही सेवन करने लगता है। इसी दशा में उसे साधक कहते हैं। अंत में साधना करते-करते जब वह पूरी मुक्त-दशा को पहुँचता है, तब वह सिद्ध कहलाता है। श्री तुकाराम महाराज इन चारों अवस्थाओं से गुज़रे। पिता की मृत्यु होने तक वे बद्धता की रात में सोते थे। उस के बाद दिवाला निकलने के दिन से इंद्रायणी में काग़ज़ डुबाने के दिन तक वे मुमुक्षु अवस्था में थे। उस के बाद उन्हों ने साधक-दशा में प्रवेश किया। इस अवस्था से सिद्ध-दशा को पहुँचने के लिये उन्हों ने जिन साधनों का सेवन किया, उन्हीं का विचार इस परिच्छेद में करना है।

इस विषय में पाठकों को दूसरे किसी के कथन पर विश्वास लाने की आवश्यकता नहीं है। स्वयं श्री तुकाराम महाराज ने अपने कुछ अभंगों में बतलाया है कि उन्हों ने क्या साधना किया। यह सब कहने का कारण यह था कि एक बार संतों ने उन से प्रश्न किया कि "महाराज आप इस स्थिति को कैसे प्राप्त हुए?" किसी महात्मा को देखते ही सामान्य लोगों को—विशेषतः उन को जो उसी मार्ग से

जाना चाहते हैं, यह जानने की स्वाभाविक मनीषा होती है कि किन बातों के आचरण से उस महात्मा को यह महत्व प्राप्त हुआ। उन बातों को जान, यथाशक्ति स्वयं आचरण कर, उच्चता को पहुँचने की महत्वाकांक्षा ही इस जिज्ञासा का मूल है। यद्यपि हर एक श्रोता उन बातों को आचरण में ला वैसा ही महात्मा नहीं बन सकता है तथापि यह इच्छा बिल्कुल स्वाभावकि है और थोड़ा-बहुत लाभ भी केवल इन बातों को जानने से भी अवश्य होता है। इसी कारण महात्माओं को अपने ही मुख से अपना ही वृत्त कथन करने की इच्छा न होते भी वह कहना पड़ता है। श्री तुकाराम महाराज तो स्पष्टतया आरंभ ही में कहते हैं कि "ये बातें कहना उचित तो नहीं, पर जब आप ऐसे सज्जन ऐसे निर्बंध से यह पृच्छा करते हैं तो आप की बात माननी ही चाहिए।" यह निवेदन कर श्री तुकाराम महाराज ने अपना साधन-मार्ग बताया है। संभव है हर एक पाठक को यह मार्ग पूर्णतया उचित न जान पड़े, या कुछ ऐसी बातें जिन पर तुकाराम जी ने अधिक भार डाला है बड़े महत्व की न प्रतीत हों। परंतु यहाँ पर ऐसे मार्ग का विचार नहीं करना है जिस से हर एक पाठक के चित्त का समाधान हो या जिस को अनुसरण कर हर एक मनुष्य तुकाराम बन सके। ऐसा सर्व-साधारण मार्ग न कोई विद्यमान है या किसी को उस मार्ग से जाने की प्रबल इच्छा है। वहाँ मार्ग आप से आप ही दीख पड़ता है। यहाँ तो केवल इतना ही देखना है कि श्री तुकाराम महाराज ने सिद्धावस्था प्राप्त करने के लिए क्या साधना की।

सांसारिक लोग जो काम सुख को समझ कर करते हैं, उन्हें छोड़ देने पर भी इस का निश्चय करना आवश्यक ही है कि क्या करना चाहिए। गीता के कथानुसार कोई भी प्राणी एक क्षण के लिए कर्म किए बिना नहीं रह सकता। अर्थात् एक प्रकार के कर्म न किए जाएं तो दूसरे किस प्रकार के करने चाहिए? उक्त प्रश्न का उत्तर भक्ति-मार्ग यों देता है। जिस प्रकार सांसारिक दशा में हर एक मनुष्य हर

एक काम अपने ख़ुद को या अपने कुल को सुख देने के लिए करता है, उसी प्रकार भक्ति की साधक दशा में हर एक काम अपने उपास्य देवता को संतुष्ट करने के हेतु करना चाहिए। इस साधकावस्था में केवल मन से ही ईश्वर कहना पर्याप्त नहीं होता, क्योंकि यह बात इतनी सहज नहीं है। यदि एक क्षण भर के लिए ही सांसारिक मनुष्य मन से ईश्वर का ध्यान करने का प्रयत्न करे तो इस बात की कठिनता उसके ध्यान में फौरन् आ जावेगी। इंद्रियों का और उन के विषयों का संनिकर्ष होते ही उन का परिणाम मस्तिष्क द्वारा मन पर हुए बग़ैर नहीं रहता। इसी कारण क्षण-क्षण में मन के चिंतन में बाधा पड़ती है। मन और शरीर का अत्यंत निकट संबंध होने के कारण एक का दूसरे पर परिणाम हुए बिना नहीं रहता। और सांसारिक कृत्यों में आसक्त रहने के कारण जो आदतें शरीर को पड़ जाती हैं उन्हीं का परिणाम मन पर अधिक होता है। अर्थात् यदि दुर्निग्रह और चंचल मन को अपनी इच्छा के अनुसार वश में रख कर इष्ट-कार्य में प्रवृत्त करना हो तो प्रथम शरीर को सँभालने से ही आरंभ करना पड़ता है योग-शास्त्र में यम नियमादिकों का प्राधान्य इसी लिए माना जाता है। इन के साहाय्य से शरीर को वश में लाने के पश्चात् चित्त-वृत्ति का निरोध करना सुसाध्य होता है। भक्ति-मार्ग में भी इसी प्रकार प्रथम शरीर, वाणी और फिर मन को वश में लाना पड़ता है।

श्रीतुकाराम महाराज के मन में भी प्रथम यही आया कि ऐसा कुछ काम करना चाहिए जिस से शरीर एक-सा श्रीविट्ठल की सेवा में मिहनत करता रहे। अतएव उन्हों ने अपना विट्ठल मंदिर सुधारने का काम सब से पहिले शुरू किया। विश्वंभर बाबा के समय से इस मंदिर की दुरुस्ती न हुई थी और बीच के दुर्भिक्ष और दुर्दैव के दिनों में तो इस की ओर किसी का ध्यान ही विशेष रूप से न गया था। मंदिर पुराना हो चुका था और कई स्थान पर गिरने को हुआ था। श्रीतुकाराम महाराज ने स्वयं सब प्रकार के कष्ट उठा कर इस मंदिर की

मरम्मत करने का निश्चय किया। उन्हों ने पत्थर-जमा किए, मिट्टी ला कर उस का गारा बनाया और सुबह से शाम तक मिहनत कर मंदिर की मरम्मत की। भीतें नई बनाई, चारों तरफ़ का अहाता तैयार किया और सब स्थान साफ़ कर नया-सा कर डाला। इस प्रकार मंदिर के जीर्णोद्धार के साथ ही उन्हों ने अपनी चित्तवृत्ति को भी सुधारा। भक्ति-मार्ग से काम करने का यही बड़ा भाव है। उदाहरणार्थ यही देखिए। जब कोई पुरुष अपना मकान बनवाता है, तब उस का चित्त उन बातों में अधिक आसक्त रहता है, जो उस घर में आगे होनेवाली हों। इसी प्रकार मंदिर बनाते समय तुकाराम के मन में भी भविष्य-कालीन दृश्य ही आते होंगे। यहाँ पर भजन करेंगे, यहाँ बैठ पूजन करेंगे, यहाँ संतों के साथ चर्चा करेंगे इत्यादि विचारों में ही उन के दिन बीते होंगे। अर्थात् मकान बनाने का एक ही कृत्य होते हुए, एक का मन सांसारिक बातों से भरा रहता है तो दूसरे का पारमार्थिक बातों में। एवं मंदिर बाँधते-बाँधते श्रीतुकाराम महाराज के चित्त में पारमार्थिक विचार, वाणी से हरिनाम का उच्चारण और शरीर से ईश्वरार्पित आचार तीनों बातें साथ ही साथ हुईं।

स्वयं मिहनत कर के मंदिर की मरम्मत करने से उस मंदिर के प्रति तुकाराम जी को अधिक ममत्व मालूम होने लगा। अपनी इच्छानुसार अब भजन-पूजन करना, एकांत में बैठ ईश्वर का ध्यान करना, ज्ञानेश्वरी प्रभृति ग्रंथों का पाठ करना इत्यादि कार्यों के लिए उन्हें अब कहीं दूर जाने का विशेष कारण न रहा। विशेष एकांत के लिए वे कभी-कभी किसी पहाड़ पर जा बैठते थे, पर प्रायः उन का बहुत-सा काल अब इसी विठ्ठल-मंदिर में बीतता था। मंदिर की मरम्मत करने के पश्चात् उन्हों ने वहीं पर एकादशी की रात में कीर्तन करना शुरू किया। एकादशी का केवल उपवास करना तो इन के कुल में पहले ही से था। पर अब वही बात अधिक नियम के साथ और अधिक निष्ठा से होने लगी। जिस प्रकार सभी धर्मों में कुछ न कुछ दिन

उपवास के लिए नियत हैं, उसी प्रकार इस वारकरी संप्रदाय में एकादशी की तिथि उपवास के लिए निश्चित है। एकादशी व्रत के लिए दशमी के दिन एक-भुक्त रह कर, एकादशी के दिन कुछ न खा कर रात भर हरि-कीर्त्तन भजन कर के द्वादशी को सूर्योदय होते ही भगवान् को नैवेद्य समर्पण कर उपवास छोड़ना होता है। जान पड़ता है कि तुकाराम जी एकादशी के साथ सोमवार को भी व्रत करते थे। क्योंकि उन के अभंगों में ये दो व्रत न करनेवालों की कई बार निंदा पाई जाती है। दिन भर निराहार रह कर शाम को शिव-पूजन कर सोमवार व्रत की धारणा की जाती है। आज-कल केवल आरोग्य के विषय दृष्टि से ही उपवास की ओर देखा जाता है, परंतु तुकाराम महाराज के समय ये उपोषण के दिन उपासना-विषयक दृष्टि से देखे जाते थे और आज भी भाविक लोग उपोषण व्रत को ओर इसी दृष्टि से देखते हैं। भक्ति-मार्ग की दृष्टि से भजन-पूजन के आड़ आनेवाले आलस्य, निद्रा और चित्तविक्षेप को दूर करने में उपवास का बड़ा उपयोग है।

श्रीतुकाराम महाराज ने एकादशी के दिन कीर्तन करना आरंभ किया। आज तक वे अन्य हरिदासों के कीर्तन सुनने जाते थे पर अब उन्हों ने स्वयं कीर्तन करना शुरू किया। इस का एक कारण तो यह था कि प्रायः बहुत-से कीर्तनकार कीर्तन कर के ही उपजीविका चलाने वाले होने के कारण केवल बगुला भगत होते थे। उन लोगों का चित्त हरिभजन में रत न होने के कारण उन के कीर्तन का उन के परिणाम श्रोताओं के नाम पर इष्ट प्रकार से नहीं होता था। तुकाराम महाराज कहते हैं "प्रायः वक्ता आशाओं से बँधा रहता है और श्रोता के मन में डर रहता है कि वक्ता कहीं श्रोता की निंदा न करे। इस का फल यह होता है कि वक्ता ख़ुद ही नहीं समझता कि वह क्या कह रहा है। वह तो खाली इसी लिए गला फुलाता है कि उसे कोई कुछ दे दे। लोभ का बिजौटा बन यह घर-घर भीख माँगता फिरता है। अगर दोनों— श्रोता और वक्ता—का मन लोभ से ही भरा है तो वह भजन किस काम

का ? यह तो वैसा ही हुआ जैसे बहरे और गूँगे एक जगह ही जमे हों। अनाज तराज़ू से तौला जाता है और बोरी में भरा जाता है, पर उस का स्वाद न तराज़ू जानता है न बोरी।" इस प्रकार के कीर्तनों से आरंभ-आरंभ में यद्यपि तुकाराम जी को कुछ आनंद हुआ होगा, पर थोड़े ही दिनों में इस प्रकार के भाड़े के कीर्तनकारों के कीर्तन से कँदरा गए होंगे। इसी कारण उन्हों ने अपने विट्ठल-मंदिर में एकादशी के दिन स्वयं कीतन करना आरंभ किया। इस विषय में आगे चल कर तुकाराम महाराज ऐसे निपुण हुए कि आप के कीर्तन की कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई और श्रीशिवाजी महाराज के से लोग भी इन का कीर्तन सुनने के लिए आने लगे। इन के कीर्तन का आनंद लोह-गाँव के लोगों ने ख़ूब लूटा। पाठक यहाँ न भूले होंगे कि लोहगाँव तुकाराम जी की माता कनकाई का जन्म स्थान था। तुकाराम-चरित के लेखक महीपति जी ने लिखा है कि "जिस प्रकार कृष्ण की जन्म-भूमि मथुरा होते भी कृष्ण-प्रेम का आनंद गोकुल के लोगों को प्राप्त हुआ, उसी प्रकार तुकाराम महाराज के जन्म-स्थान देहू की अपेक्षा तुकाराम जी के कीर्तनों का आनंद लोहगाँव वालों ने ही अधिक उठाया।" कीर्तन कर के उस के बदले में धन लेने वाले लोगों के विषय में तुकाराम जी के मन में आख़िर तक बड़ा अनादर रहा। यहाँ तक कि आप ने एक अभंग में साफ़-साफ़ कह दिया है कि "कीर्तन के बदले में जो धन लेते हैं वे और उन्हें जो धन देते हैं वे, दोनों नरक के अधिकारी हैं।"

तुकाराम स्वयं कीर्त्तन करने लगे। इस का एक कारण और भी था। शिक्षक का काम करने वाले हर एक मनुष्य का यह अनुभव है कि कई ऐसी बातें जो स्वयं पढ़ते हुए उस ने न समझी थीं, जब वह शिक्षक का काम करते हुए विद्यार्थी-वर्ग को समझाने के लिए पढ़ता है, उसे अधिक अच्छी रीति से समझ में आ जाती हैं। इस का कारण यह है कि स्वयं सीखते समय उस ग्रंथ पर इतना ध्यान नहीं दिया

जाता, जितना कि सिखाने के समय देना पड़ता है। इस के सिवाय यह भी है कि जो बात .खुद को अच्छी समझी हुई भी हो, वह भी समझाने से अधिक दिन याद रहती है। विद्यार्थी-दशा में प्रायः यह देखा जाता है कि जो विद्यार्थी अपने सहपाठियों को समझाता रहता है, उस का विषय अन्य विद्यार्थियों की अपेक्षा अधिक तैयार रहता है। मतलब यह कि स्वयं पठन करते हुए किसी बात का जितना विचार होता है, उस से कई गुना अधिक वही बात दूसरों को समझाने के समय होता है। पढ़ने की अपेक्षा पढ़ाने के काम में इसी लिए अधिक विचार करना पड़ता है। तुकाराम महाराज कीर्तन करने में प्रवृत्त खास कर इसी लिए हुए कि 'ज्ञानेश्वरी' 'एकनाथी भागवत' इत्यादि ग्रंथों पर स्वयं पाठ करने या मनन करने की अपेक्षा अधिक विचार हो। आप ने अपने एक अभंग में कहा है कि "ये शब्द केवल गौरव के नहीं पर मेरे स्वयं अनुभव से भरे हुए हैं कि भक्ति को कीर्त्तन केवल पैदा ही नहीं करता वरन् उसे बढ़ाता भी है और अंत में निज पद को भी पहुँचाता है।" आप अपने प्रवचनों में ब्रह्मज्ञान या वेदांत की अपेक्षा भक्ति-मार्ग का ही विवरण अधिक करते। खास कर आप श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं का ही वर्णन अधिक करते और श्रोतृ-समूह को .खूब भजन कराते। श्रीविट्ठल-भजन पर ही आप का अधिक मन रहता और नाम-स्मरण की महिमा आप सदा प्रतिपादन करते।

पूर्वोक्त चरित्र से पाठकों को श्रीतुकाराम महाराज के विषय में यह बात विदित ही है कि आप ने किसी ग्रंथ का विशेष अध्ययन न किया था। पिता के पास तेरह वर्ष तक केवल पढ़ना, लिखना, हिसाब करना इत्यादि व्यावहारिक बातें ही सीखी थीं। बाद को भी उन्हें अभ्यास करने का मौका न आया। उन की बुद्धि तीव्र तो अवश्य थी, पर केवल बुद्धि की तीव्रता से अभ्यास नहीं होता। प्रायः यही देखा जाता है कि तीव्र बुद्धि और दृढ़ अभ्यास क्वचित् ही साथ पाए जाते हैं। तुकाराम जी ने तो स्पष्ट ही अपने विषय में कहा है कि "कीर्तन प्रारंभ करते

समय मेरा चित्त अभ्यास में बिल्कुल न था ।" ऐसी दशा में एकदम कीर्तन करने को प्रवृत्त होना एक प्रकार का साहस ही था । पर ऐसे बुद्धिमान् पुरुषों को साहस ही अभ्यास में प्रवृत्त करता है । वही हाल यहाँ भी हुआ । कीर्तन के लिए केवल समझने से थोड़ा ही काम चलता है । उस के लिए तो कई बातें जिह्वाग्र रहनी चाहिए । इस लिए सब से प्रथम आप ने संतों के प्रासादिक वचन का मुख-पाठ करना शुरू किया । मुख-पाठ करने की प्रथा भारतवर्ष में बड़ी पुरानी है । 'अग्नि-मीले पुरोहितं' से ले कर 'समानीव आकूतिः' तक ऋग्वेद के सब मंत्र ही नहीं; उन मंत्रों के पद, क्रम, जटा इत्यादि प्रकार के पाठ, ब्राह्मण-ग्रंथो के तथा शिक्षादि षडंग-ग्रंथों के साथ, अर्थ न समझते हुए भी मुख-पाठ करनेवाले वेद-पाठी ब्राह्मणों का आज भी अभाव नहीं है । छापेखाने न होने के कारण जिस समय ग्रंथ दुष्प्राप्य थे तथा विधर्मी लोग उन ग्रंथों को जलाने या नष्ट करने पर उद्यत थे, वेदों की पाठ-परंपरा-पूर्वक रक्षा इन्हीं ब्राह्मणों की बदौलत हुई है । भारतवर्ष में प्राचीन पंडितों का तो आज भी यही विचार है कि "पुस्तक-पोथियों में ही जो विद्या रहती है तथा दूसरों के तावे में जो धन रहता है, ये दोनों किसी काम की नहीं । क्योंकि प्रसंग पड़ने पर न वह विद्या काम आती है, न वह धन ।" कीर्त्तन के समय कीर्त्तनकार काग़ज़ पढ़ कर तो प्रवचन नहीं कर सकता । उस के लिए तो मुख-पाठ करना आवश्यक ही है । मुख-पाठ करने में एक और लाभ यह होता है कि यदि अर्थ समझता हो, तो वाणी और मन दोनों का उस क्रिया में एक-ता योग रहता है । कीर्तन के लिए श्रीतुकाराम महाराज ने इसी कारण संतों के कई प्रासादिक और सुभाषित-स्वरूप वाक्य मुख-पाठ किए ।

आप लिखते हैं कि "श्रद्धा और आदर-भाव मन में रखकर मैंने संतों के वचन का मुख-पाठ किया ।" इस वाक्य का प्रथम भाग बड़ा महत्त्व-पूर्ण है । जो वचन श्रीतुकाराम महाराज ने याद किए, उनके प्रति आप के मन में आदर तथा श्रद्धा उपस्थित थी । आज कल की

शिक्षा से मन प्राय: श्रद्धा-हीन होता है। जिन ग्रंथों का अध्ययन करना हो, उन के लेखकों के प्रति यदि आदर-भाव न हो, तो उन के कथन में श्रद्धा भी नहीं उत्पन्न होती। इस 'किं युग' में हर एक बात की 'क्यों' में ही फँस जाते हैं। इन क्यों और कैसे के बाहर ही नहीं जा सकते। जहाँ देखो वहाँ संशय और शंकाओं का ही साम्राज्य नज़र आता है। इस कारण असली ज्ञान की प्राप्ति ही नहीं होती और अंत में श्रीमद्भगवद्गीता के कथनानुसार 'अज्ञ' श्रद्धाहीन और संशयात्मा बन कर अंत में नाश को ही प्राप्त होते हैं।' जैसे हर एक बात अंध-श्रद्धा से नहीं माननी चाहिए वैसे ही हर एक बात में संशय लेकर श्रद्धाहीन बनने से भी तो काम नहीं चलेगा? लोकमान्य तिलक जी के 'गीता-रहस्य' के उपोद्घात में लिखे अनुसार श्रद्धा का आधार लिए बिना काम ही नहीं चल सकता। एन् ओ नो का अर्थ नहीं, मानने के लिए भी प्रथम अर्थ बतलानेवाले के प्रति श्रद्धा ही होनी चाहिए। भूमिति-शास्त्र को आरंभ करते समय विद्यार्थी को प्रथम बिंदु या रेखा की व्याख्याएँ माननी ही पड़ती हैं। एक बार उन्हें श्रद्धा-पूर्वक मानने के बाद जैसे जैसे वह उस शास्त्र में प्रगति किए जाता है, वैसे-वैसे उन व्याख्याओं की या परिभाषाओं की सत्यता उसे प्रतीत होने लगती है। पर यदि आरंभ से ही संशय लेकर वह बैठ जाय, तो वह कुछ प्रगति ही न कर सकेगा। भारतीय धर्म-शास्त्र में श्रद्धा और मेधा दोनों को एक-सा ही प्राधान्य दिया है। केवल इतना ही नहीं, दोनों का तुल्य प्राधान्य दिखलाने के लिए श्रद्धा-मेधा की जोड़ देवता मानी गई है। तुकाराम जी ने केवल अपनी बुद्धि के बल पर ही अभ्यास न किया, पर श्रद्धा और आदर-पूर्वक अभ्यास किया। इस अभ्यास का क्या परिणाम हुआ, यह कहने की आवश्यकता ही नहीं है।

श्री तुकाराम महाराज ने अपनी बुद्धि से एक-दो ही नहीं, कई ग्रंथ पढ़े। मराठी के अतिरिक्त हिंदी और संस्कृत के भी कुछ ग्रंथ उन्हों

ने देखे थे। कबीरदास के दोहे तो उन्हों ने याद किए थे। इस बात का वर्णन महीपति जी ने किया ही है। इन दोहों की छाप इन के अभंगों पर कई स्थानों पर पड़ी हुई नजर आती है। केवल इतना ही नहीं, स्वयं तुकाराम की हिंदी-भाषा में जो रचना है, उस में कुछ दोहरे भी हैं। कबीर के सिवाय तुलसीदास, सूरदास और मीराबाई के कवित्व की भी कुछ-कुछ छाया इन के अभंगों में दीखती है। तुकाराम की हिंदी-कविता से उन का हिंदी-भाषा का ज्ञान-विशेष नहीं जान पड़ता। पर हिंदी के पूर्वोक्त संत कवियों के कवित्त प्रायः कीर्तनकारों के प्रवचनों में प्रचलित थे। इसी कारण हिंदी-भाषा उन की परिचित भाषा थी। फिर तुकाराम जी के समय पूना प्रांत पर मुसलमानों का ही शासन बहुत समय तक था, जिस के कारण भी वे हिंदुस्तानी-भाषा से परिचित थे। पर हिंदी के ग्रंथों का आप ने अध्ययन किया हो ऐसा नहीं जान पड़ता। केवल कुछ कविताएँ याद की होंगी। कई संस्कृत ग्रंथों की भी प्रतिध्वनि आप की कविता में सुनाई देती है। ज्ञानेश्वरी के साथ गीता का तो उन्हों ने अच्छा ही अध्ययन किया था। भागवत भी आप ने स्वयं मूलरूप में पढ़ा था। पुराण और दर्शन-ग्रंथ तो पढ़ने का उल्लेख अपने अभंगों में उन्हों ने स्वयं किया है। महीपति जी के कथनानुसार उन्हों ने योग-वासिष्ठ का भी मनन-पूर्वक अर्थ समझ लिया था। इस से जान पड़ता है कि तुकाराम जी ने संस्कृत-भाषा का कुछ अध्ययन अवश्य किया था। पुष्पदंत-कृत महिम्नस्तोत्र तथा शंकराचार्य जी के षट्पदी ग्रंथ का भी राग कहीं कहीं उन के अभंगों में सुनाई देता है। ये ग्रंथ पढ़ने के बाद वेद पढ़ने की भी इच्छा आप के मन में अवश्य हुई होगी, पर शूद्र-जाति में जन्म होने के कारण वह पूरी न हुई। जान पड़ता है कि यह बात उन के मन में खटकती रही। संभव है इसी कारण आप ने कई स्थान पर वेद-पाठ का अधिकार न रहने की बात पर दुःख प्रगट किया है। पर साथ ही आप से यह बात भी छिपी न थी कि जिन ब्राह्मणों को वह अधिकार था, वे वेद का अर्थ कुछ भी न

समझते थे। अनेक जगह आप ने लिखा है कि "वेद का अर्थ तो हम ही जानते हैं, अन्य लोग तो केवल सिर पर बोझा उठानेवाले हैं" "वेद जिसे गाते हैं, वह तो हमारे ही साथ है" "वेदों का जटिल अर्थ वेद-पाठकों की समझ नहीं और दूसरे लोगों को अधिकार नहीं" इत्यादि। इस के सिवाय पुराण और अन्यान्य ग्रंथों में जो वेद का उल्लेख उन्हों ने पाया था, उस से उन का अनुमान हो चुका था कि वेदों में क्या लिखा है। और उसी के आधार पर आप ने कई जगह वेद-मंत्रों का भावार्थ दिया भी है। परंतु आप का खास अध्ययन मराठी संत-कवियों के ग्रंथों का था। ज्ञानेश्वर के अमृतानुभव और ज्ञानेश्वरी तथा एकनाथ की 'भावार्थ रामायण' और 'भागवत' के आप ने कई पारायण किए थे और उन के अर्थ को आत्मसात् कर लिया था। नामदेव के तो कई अभंग माता कनकाई के मुख से सुन कर इन्हें बचपन से ही याद थे और कीर्तन-भजन के लिए सब से पहले आप ने इन्हीं अभंगों को याद किया। नामदेव के प्रायः जिन-जिन विषयों पर अभंग पाए जाते हैं, उन सब विषयों पर तुकाराम महाराज के भी अभंग हैं।

भाविक पुरुष को ग्रंथाध्ययन करते समय एक बड़े संकट का सामना करना पड़ता है। अनेक ग्रंथ देखने पर अनेकों के अनेक मत ध्यान में आ कर बुद्धि चकरा जाती है। इस विषय में चित्त को संदेह होने लगता है कि सच क्या है और झूठ क्या। ऐसे समय यदि मन का दृढ़ निश्चय न हो या सत्यासत्य का निर्णय करने की सामर्थ्य बुद्धि में न हो तो बड़ी आपत्ति आ पड़ती है। परंतु तुकाराम महाराज में ये दोनों गुण थे। किए हुए निश्चय में उन की बुद्धि स्थिर थी और उन की तीव्र-बुद्धि सार-ग्राहिणी थी। वे स्वयं कहते हैं कि "सत्य और असत्य के निर्णय में मैं अपनी बुद्धि की गवाही लेता और अन्यान्य मतों को न मानता।" किसी भी ग्रंथ को पढ़ते समय आप का विचार हंसक्षीर न्याय से होता था। आप ने मुख्य सार एक ही निकाल रक्खा

था। आप कहते हैं कि "वेद ने अनंत बातें कहीं पर सब शब्दों से एक ही अर्थ बतलाया। सब शास्त्रों ने विचार कर एक ही बात का निश्चय किया। अठारह पुराणों का सिद्धांत देखा जाय तो उन का एक ही हेतु है।" तुकाराम कहते यह हैं "विठोबा को शरण जाना चाहिए।" तुकाराम महाराज की पाठांतर शक्ति असाधारण थी और साथ ही आपकी स्मरण शक्ति भी दुर्बल न थी जैसी कि प्रायः तीक्ष्ण बुद्धि पुरुषों की होती है। एक बार का याद किया आप प्रायः भूलते न थे। इस का कारण महीपति की भाषा में कहा जाय तो यह था कि "दिन रात मनन करने के कारण अक्षर मानों स्वयं आ कर मुख में वास करने लगते।" इस प्रकार महाराज ने बड़े परिश्रम के साथ भक्ति-विषयक ग्रंथों का अध्ययन कर और उन की सार निचोड़ कर मन में रक्खा। फल यह हुआ कि उस समय के भक्तजनों में आप की प्रतिष्ठा होने लगी।

साधक-दशा में सब से बड़ा संकट उस समय सामने आता है, जिस समय मनुष्य की प्रतिष्ठा बढ़ने लगती है। जैसे योगियों की राह में अणिमादि सिद्धियाँ आड़ आती हैं वैसे ही भाविक साधक के मार्ग में सम्मान और प्रतिष्ठा का बड़ा संकट आता है। मनुष्य स्वभाव से ही स्तुतिप्रिय होता है। उस पर भी जब वह केवल अपने ही परिश्रम से, किसी दूसरे का साहाय्य न ले कर, ऊँचे पद को पहुँचता है तब तो उस में अभिमान की मात्रा अधिकांश में उत्पन्न होने की बहुत संभावना रहती है। न किसी को उसे समझाने का अधिकार रहता है, न किसी का कहा वह मानता है। तुकोबा को भी इस अभिमान से खूब ही झगड़ना पड़ा। आप खूब जानते थे कि यह अभिमान मन को बहिर्मुख करता है। अभिमान या अहंकार के उत्पन्न होते ही, चित्त की अंतर्मुख वृत्ति नष्ट होती है। उसे अपने दोष नहीं दीखते। केवल दूसरों के ही दोष नज़र आते हैं। आप ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "यह काले मुँह का अभिमान जबरदस्ती अँधेरा दिखलाता है। मुख में मिट्टी

डाल जो कुछ तुम्हें मिला हो उसे हाथ के हाथ उठा ले जाता है। बनी-बनाई बात बिगाड़ने के लिए यही लोक-लाज के रूप से पीछे पड़ता है। इस प्रकार बिगड़े हुए लोगों की आखिर फ़जीहत ही है।" इस अहंता से बचने के लिए आप ने लोक-लाज को कभी अपने पास फटकने भी न दिया। लोकलज्जा अहंता का ही एक सूक्ष्म स्वरूप है। इस लिए उसे छोड़ आप सदा बड़ी दीनता धारण करते थे, और अभिमान को दूर भगा देते थे। उदाहरणार्थ जिन कीर्तनकारों के कारण आप को स्वयं कीर्तन की इच्छा हुई, उन्हीं के पीछे आप साथ करने के लिए खड़े रहते। अर्थात् उन के मन में इन के प्रति सद्भाव रहता और इन के मन में अहंता न आती। आप ने अपने आत्मचरित्र पर अभंग में कहा है कि "मैं ने भक्तिपूर्वक शुद्ध चित्त कर के आगे गानेवालों का साथ किया, संतों का पादोदक सेवन किया और लाज को दूर रख जैसा बना वैसा परोपकार किया।" ऐसे मन में अभिमान को प्रवेश न दे कर और लाज छोड़ कर तुकाराम महाराज ने नम्रता धारण की और अपना साधना-व्रत निबाहा।

तुकाराम महाराज ने एक अभंग में साधक-स्थिति का वर्णन किया है जिस से उन की साधना की कल्पना भलीभाँति की जाती है। "साधक की स्थिति उदास होनी चाहिए। भीतर-बाहर किसी प्रकार की उपाधि उसे न रखनी चाहिए। शरीर की सुख-लोलुपता तथा निद्रा दोनों को जीत साधक को खाना बहुत थोड़ा खाना चाहिए। अकेले जहाँ कोई न हो वहाँ स्त्रियों के साथ कंठस्थ-प्राण होते भी संभाषण नहीं करना चाहिए। सत्संगति, नामस्मरण और कीर्तन दिनरात होना चाहिए। तुकाराम महाराज कहते हैं जो कोई ऐसे साधनों से रहता है, उसी को ज्ञान और गुरु-कृपा प्राप्त होती है।" और एक जगह दो साधनों पर या साधक-स्थिति के दो शत्रुओं से बचने के विषय पर आप ने कहा है कि "अगर कोई साधना चाहे तो उस के लिए दो ही साधन हैं। उसे पर-द्रव्य और पर-नारी दोनों को बिल्कुल अस्पृश्य

मानना चाहिए।" तुकाराम जी ने ये दोनों साधन यावज्जीवन पाले। धन के विषय में तो आप निरिच्छ थे ही। पर एक अभंग से जान पड़ता है कि एक मौक़ा आप को ऐसा भी मिला था जब कि एक स्त्री इन्हें लुभाने के लिए इन के पास आई। पर आप ने मनोजयपूर्वक उसे जवाब दिया कि "मां, यहाँ तो कभी का निश्चय हो चुका है कि पर-स्त्री रखुमाई सी है। जाओ यहाँ व्यर्थ कष्ट न करो। हम विष्णुदास वैसे नहीं। न तेरा पतन मुझसे देखा जाता है, न तेरा दुष्ट-वाक्य सुना जाता है। और अगर तुझे पुरुष की ही आवश्यकता है, तो दूसरे क्या थोड़े लोग हैं?" बेचारी क्या सोचती हुई वहाँ से गई होगी?

साधकावस्था चार स्थितियों में विभक्त की जाती है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार। साधक पहले किसी साधन की केवल बातें सुनता है। फिर उस का आचरण करते-करते वह मनन करता है। मनन स्थिति में वह देखता जाता है कि उस की साधना पूरी हुई या नहीं। साधनों का आचरण करते-करते साध्य प्राप्ति का विचार दिन-रात सर्वकाल उस के मन में बना रहता है। इसी को निदिध्यासन कहते हैं। अंत में जब उन साधनों का आचरण होते-होते अहोरात्र साध्यप्राप्ति का विचार मन में रहता है, तब साक्षात्कार होता है। तुकाराम की साधन-दशा पहली तीनों अवस्थाओं में से जा चुकी थी। साक्षात्कार सुलभ नहीं है। श्रीतुकाराम महाराज की सब साधना श्रीविट्ठल के अब केवल साक्षात्कार की और शरण जाने की थी। वे पूर्णतया शरण हुए, उन्हों ने संसार छोड़ा कनक और कामिनी के मोह को त्याग दिया, श्रवण, मनन और निदिध्यासन किया। अब केवल भगवत्स्वरूप का साक्षात्कार होना बाक़ी था। जहाँ न शब्दों की तथा न मन की दौड़ पहुँचती है, ऐसे निर्गुण निराकार ईश्वर यदि तुकाराम महाराज के उपासक होते, तो 'मैं ब्रह्म हूँ' इस ज्ञान से उन का समाधान हो जाता। पर वे थे सगुणोपासक। उन के परमात्मा तो भक्तों के साथ हँसते, खेलते, काम करते, भक्तों के संकट दूर करने के

लिए वैकुंठ छोड़ दौड़े आते थे। अर्थात् तुकाराम महाराज इसी प्रकार के साक्षात्कार के भूखे थे। क्षण-क्षण ज्ञानेश्वर, नामदेव, जनाबाई कबीर, एकनाथ, इत्यादि संतों के चरित्र ध्यान में ला कर और उन के लिए सगुण परमेश्वर ने जो साक्षात्कार किए थे उन्हें मन में लाते। "जिन संतों को मूर्तिमान् श्रीविठ्ठल के दर्शन हुए थे या हुए हैं, उन की योग्यता तक मैं अभी न पहुँचा" इस विचार से आप का चित्त बड़ा उद्विग्न होता। आप फिर-फिर मन में विचारते कि अपनी साधना में क्या दोष रहा।

विचार करते-करते आप के ध्यान में आया कि "यदि मेरी साधना में कुछ दोष है या कुछ कमी है, तो यही कि मुझे अभी तक किसी गुरु का उपदेश नहीं हुआ।" उपनिषदों में आप ने अवश्य ही पढ़ा होगा कि "जिसे गुरु मिला है, उसी को ज्ञान होता है," "जिस-की देव के विषय में उत्कट भक्ति होती है, और जैसे देव के वैसे ही गुरु के विषय में, उसी को वे सब योग्य समझते हैं।" श्रीराम, श्री कृष्ण इत्यादि लीला-विग्रहधारी परमेश्वर ने भी गुरु-सेवा की थी। 'गुरु बिन कौन बतावे बाट' इत्यादि कबीर के पद भी आप को याद होंगे। पुराणों और संतों के विषय में तो आप ने स्वयं लिखा ही है कि 'व्यास ऋषि पुराणों में कहते हैं कि 'सद्गुरु के बिना मनुष्य प्रेत-रूप है। किसी प्रकार से उस का छुटकारा नहीं हो सकता। उस का शरीर झूठ से भरा रहता है। पुराण-ग्रंथ तो ऐसा कहते ही हैं और संतों के वचन भी ऐसे ही हैं।' अतएव आप की यह कल्पना हुई कि किसी गुरु की शरण जाना चाहिये। पर तुकाराम ऐसे तीक्ष्णबुद्धि तथा परम चिकित्सक भाविक को गुरु मिलना सहज न था। उन के आसपास ऐसे गुरु तो बहुत थे जो 'न तो शास्त्राधार जानते थे, न पात्रापात्र का विचार करते थे'। पर केवल उपदेश दे कर गुरुदक्षिणा रूपी धन पर' ही हाथ चलाते थे।' पर तुकाराम ऐसे खरे परीक्षक के सम्मुख ऐसे खोटे सिक्के चलने-वाले न थे। आप के मतानुसार तो 'ऐसे गुरु और

उन के शिष्य दोनों नित्यगति के ही अधिकारी थे।' पीछे कहा हो गया है कि केवल ब्रह्मज्ञान पर आप का विश्वास न था। आप जानते थे कि 'घर-घर ब्रह्मज्ञान है, पर जहाँ देखो वहाँ उस में मेल है।' सगुण-भक्ति की अपेक्षा करने वाले ऐसे ब्रह्मज्ञानियों के प्रति आप की भक्ति न थी। आप का तो साफ़-साफ़ ऐसा मत था कि 'गुरु के मुख ब्रह्मज्ञान हो सकता है पर विठोबा के प्रेम की पहचान नहीं हो सकती। विठोबा का प्रेम भाव वेदों से पूछना चाहिये और पुराणों से विचारना चाहिये। ज्ञान से आने वाली थकावट छोड़ केवल संत ही वह पहचान जान सकते हैं।" इस लिए किसी दांभिक गुरु से आप उपदेश लेने के लिये तैयार न थे। पर दिन-रात श्रीविट्ठल की प्रार्थना करते रहते कि कोई अच्छा गुरु मिले और उस के उपदेश से आप कृतार्थ हों। इस निदिध्यासावस्था में आप को प्रायः लोगों का उपसर्ग सहन न होता और घर के बाहर, पहाड़ों पर आप रात की रात श्री विट्ठल की प्रार्थना करते-करते गुज़ारते। अंत में एक माघ शुक्ला दशमी गुरुवार की रात को आप ऐसे ही भजन कर रहे थे कि आप की आखें झपकीं और आप को निम्नलिखित दृश्य दिखाई दिया। आप इंद्रायणी पर स्नान को जा रहे थे कि राह में आप को एक सत्पुरुष का दर्शन हुआ। तुकाराम जी उन के पैर पड़े और, उस सत्पुरुष ने इन्हें हाथ पकड़ कर उठाया। बड़े प्रेमभाव के साथ इन के पीठ पर से हाथ फेरा और आशीर्वाद दे कर कहा कि 'कुछ चिंता न करो। मैं तुम्हारा भाव पहचान गया हूँ।' इतना कह कर उस सत्पुरुष ने इन के सिर पर हाथ रक्खा और कान में 'राम कृष्ण हरि' मंत्र का उपदेश किया। उन्हों ने अपना ख़ुद का नाम बाबा जी बतलाया और अपनी परंपरा 'राघव चैतन्य, केशव चैतन्य' बतलाई। सत्पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, संभाषण और उपदेश होने के कारण श्री तुकाराम महाराज बड़े आनंदित हुए उसी आनंद में 'राम कृष्ण हरि', 'राम कृष्ण हरि' ज़ोर-ज़ोर से कहने लगे कि आपकी झपक खुल गई। देखते हैं कि केवल 'राम कृष्ण हरि' 'राम

कृष्ण हरि' शब्द मुख से निकल रहे हैं। आप का निश्चय हो गया कि आप को गुरूपदेश का साक्षात्कार हो चुका। यह तिथि स्वयं श्रीतुकाराम महाराज ने अपने अभंग में दी है, और संशोधक विद्वानों का निश्चय हुआ है कि अंग्रेज़ी वर्ष के हिसाब से उस दिन ई० सं० १६३३ के जनवरी मास की दसवीं तारीख थी।

भाविकों की दृष्टि से जो साक्षात्कार कहलाता है, उसे ही अभाविक लोग केवल मनःकल्पित कल्पना कह सकते हैं। यहाँ भी कोई इस प्रकार कह सकता है कि इस स्वप्न में साक्षात्कार कौन-सा है? यह तो केवल मन का खेल है। 'मन में अपने, देखा सपने।' यह कहावत यद्यपि ठीक है तथापि जब तक क़र्ज़ाँ ही सपना पड़ने का कारण या इष्ट स्वप्न हठात् देखने की सामर्थ्य मनुष्य में नहीं आई हो, तब तक श्रद्धायुक्त लोग ऐसे स्वप्न दृश्य को भी साक्षात्कार ही समझेंगे। श्रद्धावान् भाविक भक्तों पर तो इन साक्षात्कारों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। अक्सर देखा जाता है कि बच्चा रात के समय अँधेरे में जाने से डरता है। वह मा को साथ आने के लिए बुलाता है। मा जगह पर ही बैठो-बैठो 'मुन्ना, मुन्ना' पुकारती है। बच्चे का विश्वास हो जाता है कि माता पास है और वह अँधेरे में चला जाता है। कई बार तो मा पुकारती भी नहीं। यह केवल भावना कि वह जागती है उसे निर्भय करने में समर्थ होती है। ठीक यही बात साक्षात्कारों की है। साक्षात्कार के कारण भाविक के मन में जब एक बार यह भावना उदित होती है कि ईश्वर उसे सहाय कर रहा है, उस की भोली भक्ति अधिक बढ़ती है, उस की श्रद्धा दृढ़तर होती है और वह अपनी साधनाओं में अधिक निश्चय से प्रयुक्त होता है। तुकाराम जी के मन पर यही असर हुआ। सद्गुरूपदेश के विश्वास से अब आप ने 'राम कृष्ण हरि' मंत्र का नियम-पूर्वक जप आरंभ किया। आप का निश्चय हो गया कि अब आप को भगवद्दर्शन अवश्य होगा। पर भगवान् का दर्शन ऐसा सुलभ थोड़ा ही है? चित्त में जब तक तीव्र उत्कंठा न हो,

जीव उस के बिना बिल्कुल ऐसा न तड़फे जैसे कि जल-बिन मछली, चित्त की पूर्ण एकाग्रता नहीं होती और बिना एकाग्रता के सक्षात्कार भी नहीं होता। कुछ दिनके बाद तुकारामजी का ठीक यही हाल हुआ। अब आप केवल अपने मन से ही नहीं प्रत्युत अन्य संतों से भी पूछने लगे कि "भाई सजनों, इस प्रश्न का उत्तर देकर मेरे चित्तका समाधान करो। क्या मेराउद्धार होगा ? क्या नारायण मुझ पर कृपा करेंगे ! क्या मेरे पल्ले ऐसा पुण्य है जिसके प्रभाव से मैं भगवान् के चरण गहूँ, वह मेरे पीठ पर हाथ फेरें और भगवान् का यह प्रेमभाव देख मेरा गला भर आवे ? चारों पहर मुझे यही चिंता है, दिन रात मेरे दिल को यही लगी है। मेरी सामर्थ्य ऐसी नहीं जान पड़ती कि उस के बल से यह फल मुझे मिल जाय।" ऐसा बोल कर आप शोक में फूट-फूट कर रोते। ऐसी साधना और फिर ऐसी निरभिमानिता। फिर भगवान् दूर क्यों रहेंगे ? एक रात इसी अवस्था में तुकाराम को दूसरा साक्षात्कार हुआ। आप सो रहे थे कि नामदेव जी विट्ठल को ले कर आए और आप को जगा कर बोले "आज से व्यर्थ न बोलो। अभंग रचने लगो। मेरा शतकोटि अभंग-रचना का प्रण पूरा न होने पाया था। उस में जो कुछ कसर रही है उसे तुम पूरी कर दो। डरने का काम नहीं। यह हमारी आज्ञा है। गल्ले की गाड़ी पर जैसा तौलने वाला तराज़ू से तौलता चला जाता है उसी प्रकार से तुम रचना किए जाओ। तौला हुआ गल्ला जिस प्रकार अपना पल्ला पसार हुमाल भरता जाता है उसी प्रकार यह श्रीविट्ठल तुम्हारी कविता की सँभाल करेंगे।" आज्ञा सुन श्रीतुकाराम जी ने दोनों के चरण गहे। श्रीविट्ठल ने पीठ ठोंकी और दोनों अंतर्धान हुए। श्रीतुकाराम जी को आनंद हुआ। उन की साधना पूरी हुई। उन का पुण्य फूला। मनोरथ फले। साक्षात् श्रीविट्ठल का दर्शन हुआ। उन की अभंग रचना का आरंभ हुआ।

षष्ठ परिच्छेद : तुकाराम जी की कसौटी

इस दुनिया में कोई भी चीज़ पैदा होने के पहले कुछ काल अज्ञात दशा में रहती है। बाद को जब वह अदृश्य रूप से दृश्य रूप में बदल जाने के कारण आँखों को नज़र आती है, तब पहले-पहल उसकी ओर कोई भी ध्यान नहीं देता। इस दशा में कुछ दिन निकल जाते हैं। धीरे-धीरे उसे बढ़ती देख कर लोगों का ध्यान उस की ओर खिंच जाता है और जिन्हें वह पसंद हो, वे उसे बढ़ाने के लिए और जिन्हें वह नापसंद हो, वे उसका नाश करने के लिए भर सक कोशिश करते हैं। बिल्कुल आरंभ से ही जिन्हें पोषक ही पोषक मिलते हैं, उन का प्रायः अधिक विकास नहीं होता, पर जो नाशक द्रव्यों के घोर विरोध में भी जीते और बढ़ते हैं वे ही अंत में ऊँचे पद को पहुँचते हैं। श्रीतुकाराम जी महाराज की साधना पूरी हो जाने तक उन का घोर विरोध किसी ने न किया था। पर जब से वे अभगों की रचना करने लगे, तब से उन की दिन ब दिन अधिक प्रसिद्धि होने लगी और कुछ प्रसिद्ध लोगों की आँखों में—विशेषतः उन की, जो कि भक्ति-मार्ग के सदा से विरोध करने वाले वैदिक कर्ममार्गी थे—यह चुभने लगी। जब उन्हों ने सुना कि एक पच्चीस-तीस वर्ष का नौजवान, जिसे अपनी दूकान तक सँभालने का शऊर न था, जो अपनी जोरू से लड़ कर अपने घर से कुछ दिन भाग गया था, और जिसे थोड़े ही साल पहले कुछ भी ज्ञान न था, कविता बनाता है और कहता है कि उसे स्वप्न में ही गुरुदेव का दर्शन हुआ और स्वप्न में ही परमेश्वर ने उसे कविता बनाने की आज्ञा दी तब उन में से कुछ तो हँसी उड़ाने लगे। पर वे लोग जो कि तुकाराम के पास थे और जिन के स्वार्थ में श्रीतुकाराम जी के कारण हानि पहुँचना संभव था, उन का विरोध करने लगे। अब पाठकों को यह बतलाना है कि इस विरोध

में श्रीतुकाराम महाराज की क्या दशा हुई और इस से पार उन्हों ने कैसे पाया। गत परिच्छेद के अंत तक पाठक गण यह देख चुके हैं कि तुकारामरूपी सोना खान में से बाहर कैसे निकला, और उस में मिला हुआ कूड़ा-कचरा, मिट्टी दूर होने पर वह कैसे चमकने लगा। अब अपनी शुद्धता लोगों को पूरा-पूरी समझाने के लिए उसे आग में जल कर, बिना काला पड़े बाहर निकलना बाकी था। प्यारे पाठको, अब आप को यही बतलाना है कि यह कार्य कैसे हुआ।

वैदिक कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग का विरोध बहुत ज़माने से होता ही आया है। पहले-पहल इन मार्गों में केवल साधन-भेद का ही झगड़ा था। कर्म-मार्गी लोग यज्ञ-यागादि कर्मों की आवश्यकता मानते थे तो भक्तिमार्गी लोग इन बातों की ज़रूरत न समझते थे। कर्ममार्गियों में ब्राह्मण-वर्ण का महत्त्व माना जाता था। यज्ञ-यागादि काम ब्राह्मणों के बिना न हो सकते थे और इन कामों की दक्षिणा भी ब्राह्मण लोगों को ही दी जाती थी। क्योंकि याजन और प्रतिग्रह अर्थात् दूसरों के घर यज्ञ करना और उन से दक्षिणा लेना—ये दो काम ब्राह्मणों के ही हक़ के समझे जाते थे। भक्तिमार्ग इन बातों को न मानता था। इस लिए जब उस की बाढ़ होने लगी, तब केवल इन्हीं कृत्यों पर जिनका पेट पलता था, ऐसे ब्राह्मणों को भक्तिमार्ग का विरोध करना पड़ा। उस ज़माने में साधन-भेद और जाति-भेद के ही तत्त्वों पर विरोध था। काल के साथ ये विरोध के कारण बढ़ते गए। संस्कृत काल में भाषा-भेद न था। सभी संस्कृत बोलते तथा समझते थे। पर प्राकृत-काल में जाति-भेद के तत्व के साथ ही भाषा-भेद का भी एक तत्व और भीतर घुसा। कर्म-मार्गी लोगों के सब मंत्र तथा उन की धर्म पुस्तकें संस्कृत भाषा में ही होने के कारण, जब वे ग्रंथ प्राकृत भाषा में प्रकट होने लगे, तो कुछ मंत्रों की पोल खुलने लगी। इसी प्रकार जब संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद प्राकृत में होने लगे, तब संस्कृत भाषा के अभिमानी कर्ममार्गी पंडित लोगों का जी घबराने लगा।

महाराष्ट्रीय संतों ने पूर्ण प्राकृत विठ्ठल देवता का ही माहात्म्य बढ़ाया। जिस श्रीमद्भगवतगीता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए संस्कृत के प्रकांड पंडितों की शरण लेनी पड़ती थी, उसी गीता का श्रीज्ञानेश्वरी जी के महाराष्ट्र भाषा में अनुवाद और विवरण करते ही पंडित ब्राह्मणों का हृदय हिल उठा। तब से ले कर उस हर एक महाराष्ट्रीय संत को जिस ने मराठी में कुछ लिखा, ब्राह्मणों से थोड़ा-बहुत विरोध करना ही पड़ा। एकनाथ जी ने तो साफ़-साफ़ कहा कि "ईश्वर को भाषाभिमान नहीं है। उसे संस्कृत-प्राकृत दोनों एक-सी ही हैं। ज्ञान और प्रार्थना किसी भाषा में की जाय, उस से परमात्मा एक-सा ही संतुष्ट होता है।" पर फिर भी इस प्रकार के ग्रंथ लिखने वाले प्रायः ब्राह्मण-कुल के ही थे। पर तुकाराम जी के समय इस झगड़े में यह बात भी और बढ़ गई कि तुकाराम जाति के शूद्र थे। अर्थात् जब श्रीतुकाराम महाराज की दिव्य-वाणी से पूर्ण प्राकृत में शुद्ध भक्ति-भाव का संदेश सुन, सब जाति के भाविक लोग उन्हें गुरु समझने लगे, तब अपने गुरूपदेश से लोगों को लूटनेवाले और उसी पर अपना पेट पालनेवाले ब्राह्मण तथा कर्म-मार्ग-प्रवर्तक विद्वान् पंडित तुकाराम जी को बुरी नज़र से देखने लगे।

इन्हीं कर्ममार्ग-प्रवर्तक विद्वानों में रामेश्वर भट नाम के एक महा-पंडित कन्नड ब्राह्मण थे। बदामी गाँव से इन के पूर्वज महाराष्ट्र में बाघोली नामक (देहू के पास ही) एक गाँव में आ बसे थे। पाँच-चार गाँवों के जोशी का हक़ भी इन्हीं के कुल में था। वेद-विद्या इन के घर में परंपरा-प्राप्त थी। ये श्रीरामचंद्र जी के परम उपासक थे। बाघोली के व्याघ्रेश्वर नामक महादेव के मंदिर में इन्हों ने वेद का पारायण किया था और उसी का ये रोज़ रुद्राभिषेक करते थे। श्रीतुकाराम महाराज की कीर्ति सुन इन्हों ने ऐसी तजवीज़ की कि तुकाराम जी देहू से ही बाहर निकाले जावें। उन्हों ने ग्रामाधिकारी को यह समझाया कि तुकाराम पाखंडी है। अपने कीर्तनों में नाम-माहात्म्य का वर्णन कर

वह भोले लोगों को अनादि काल से चले हुए वैदिक धर्म से प्रचलित करता है। इसी तरह ईश्वर-दर्शन की गप्पें मार ग़रीब लोगों को फ़साता है।" उस अफ़सर ने यह बात देहू के पटेल से कही और उस के द्वारा श्रीतुकाराम महाराज को देहू गाँव छोड़ने के विषय में हुक्म भेजा। देहू तुकोबा की जन्मभूमि थी। वहाँ वे छोटे से बड़े हुए थे। वहाँ के विठ्ठल के प्रति उन का प्रेमभाव ख़ूब ही बढ़ा हुआ था। ऐसी दशा में यह हुक्म सुन कर अपने देहू गाँव को अर्थात् पर्याय से अपने प्राणप्रिय श्रीविठ्ठल को छोड़ जाने का श्रीतुकाराम महाराज को बड़ा भारी दुःख हुआ। जब उन्हों ने यह समझा कि इस हुक्मनामे के मूल-कारण रामेश्वर भट हैं, वे स्वयं वाघोली गए। मंशा यह थी कि रामेश्वर भट जी को कीर्तन सुनाया जावे और उन की प्रार्थना कर उन्हीं के सिफ़ारिश से वह हुक्म फेरा जावे। जब आप वहाँ पहुँचे तो रामेश्वर भट वेद-पारायण कर रहे थे। आप ने दंडवत-प्रणाम किया और आप के सामने व्याघ्रेश्वर के मंदिर में ही कीर्तन का आरंभ किया। सहज स्फूर्ति से महाराज अभंग गाने लगे। स्वाभाविक तौर पर रामेश्वर भट के-से विद्वान् के सम्मुख किए हुए कीर्तन में जो प्रवचन किया तथा जो अभंग गाए उन में वेद-शास्त्रों का अर्थ भरा हुआ था। कीर्तन सुनकर रामेश्र भट अवाक् रह गए। पर आप ने तुकाराम जी से कहा "तुम्हारे अभंगों में श्रुतियों का अर्थ आता है। तुम शूद्र जाति में पैदा हो। अतएव तुम्हें श्रुत्यर्थ का अधिकार नहीं। क्या तुम जानते नहीं हो कि 'स्त्रीशूद्रद्विजबंधूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।' ऐसा करने से तुम स्वयं अपने को और अपने श्रोताओं को दोनों को केवल पाप का भागी बनाते हो। इस लिए आज से अभंग-रचना बंद कर दो।" श्रीतुकाराम महाराज बोले "मैं श्रीविठ्ठल की आज्ञानुसार कविता करता हूँ। आप ब्राह्मण- देवों को भी वंद्य हैं। आप की आज्ञा मुझे प्रमाण है। मैं आज से अब अभंग न रचूँगा। पर रचे हुए अभंग क्या किया जाय?" जवाब मिला "यदि किए हुए अभंग नदी में डुबा दो और फिर से अभंग न रचो तो

मैं हुक्म वापिस फेरने की सिफ़ारिश करूँ।" "जैसी आप की मर्ज़ी" कह कर तुकोवा देहू-आए और अपने अभंगों का वस्ता उठा नीचे ऊपर पत्थर बाँध इंद्रायणी में धड़ाम से फेंक दिया।

किसी साधारण लेखक का मामूली लेख भी यदि किसी संपादक महाशय की ओर से नापसंद हो वापस आता है, तो भी उस लेखक को बड़ा दुःख होता है। फिर तुकाराम महाराज के-से अभंग-रचयिता को अपने खुद के अभंग अपने ही हाथों से पानी में फेंक देने के कारण कितना दुःख हुआ होगा इस की कल्पना सहज में की जा सकती है। आप की कल्पना के अनुसार साक्षात् श्रीविट्ठल ने वे अभंग रचने की उन्हें आज्ञा दी थी। उन अभंगों के रूप से आप ने अपने मन में उमँगते हुए विचारों को ही बाहर निकाला था। उन अभंगों के सुनने से सैकड़ों भाविक लोगों के कान तृप्त हुए थे। ऐसे अभंगों को नदी में फेंक देना अपने जीते जागते लड़के को पानी में फेंक देने के बराबर ही था। पर श्रीविट्ठल के वियोग की भीति से आप यह कठोर कर्म भी कर बैठे। दुःख से भरे हुए मन से ही आप वाघोली से लौटे और उसी जोश में अपना वस्ता ले कर इंद्रायणी में फेंक दिया। परंतु फेंकने के बाद जब कई लोगों के मुख से यह सुना कि "जो किया, बड़ा बुरा किया। एक बार क़र्ज़ खतों के काग़ज़ फेंक स्वार्थ डुबोया, अब श्रीविट्ठल की आज्ञानुसार किए अभंग फेंक परमार्थ भी डुबोया एवं दोनों मार्ग डुबो दिए। 'दोनों ठौर से गए पाँडे। न हलुआ मिला, न मिले माँडे" आप का जोश खट स उतर गया। दिल ने पलटा खाया। भावना का ज़ोरकम हुआ और विचार का ज़ोर बढ़ा। वहीं नदी-किनारे बैठे-बैठे विचार करने लगे। जैसे-जैसे विचार करते गए, कानों में यही अक्षर गूँजने लगे कि 'जो किया बुरा किया।' आप का विचार दृढ़ हो गया कि अब जीने से क्या लाभ? जीने में अगर न स्वार्थ है, न परमार्थ है, तो वह जीना मरने के ही बराबर है। आप ने वहीं नदी के तीर एक पत्थर पर बैठ प्रायोपवेशन से जान देने का निश्चय किया।

जब कोई मनुष्य अपने खुद के हाथों से अपने पैरों पर पत्थर गिराता है, तब उस की बड़ी दुर्दशा होती है। अपना दुःख हलका करने के लिए न वह दूसरों से कुछ कह सकता है, न किसी का कुछ सुनने की उस की इच्छा रहती है। इस अवस्था में हृदय फटने लगता है, मुख से शब्द नहीं निकलता, किसी दूसरे को आँखों से देखने की भी इच्छा नहीं होती, एकांत ही प्रिय लगता है, न खाना सूझता है न पीना। सारांश यह कि एक प्रकार की उन्मादावस्था आ जाती है। श्रीतुकाराम महाराज की यही स्थिति हुई। फिर भी मन की एक ऐसी प्रवृत्ति होती है कि वह उसी काम को करने के लिए दौड़ता है जिसे करने के लिए उसे रोका गया हो। श्रीविट्ठल की आज्ञा समझ कर तुकोबा सदा अभंग रचने की ही धुन में रहते थे। अब रचना करने की मुमानियत हुई तो हठात् उन के मुख से उस उन्मादावस्था में जो विचार शब्द रूप से बाहर पड़ने लगे वे अभंगों के ही रूप में बाहर आने लगे। उन के कुछ अभग उस समय उन के भक्तों ने लिख लिए। वे आज भी प्रसिद्ध हैं। इन अभंगों से तुकाराम की मनःस्थिति पूरी-पूरी जानी जाती है। इन्हें पढ़ कर खासी कल्पना हो सकती है कि महाराज के मन में क्या-क्या विचार उमड़ रहे थे। इन विचारों में कभी स्वनिंदा, कभी ईश्वर की आज्ञा के विषय में अविश्वास और कभी ईश्वर को भी चार भली-बुरी बातें सुनाई गई हैं।

इस स्थिति में तुकाराम जी एक दो नहीं तेरह दिन पड़े रहे। न कुछ खाना न कुछ पीना। बीच-बीच में जब मन की जलन अधिक बढ़ती तो अभंगरूप से उन विचारों का उच्चार होता है। आप कहते "हे हरे, इसे तो बड़े अचरज की बात कहनी चाहिए कि हमारे घर में आ कर लोग हमें तकलीफ़ दें। अगर भक्ति के कारण ऐसे दोष उत्पन्न हों तो भक्ति की क्या ही कहनी चाहिए? दिन-रात जागने का क्या फल? मिली तो दिल की जलन। तुकाराम तो इन सब बातों से यही समझता है कि उस की सेवा निष्फल हो गई।" लेकिन हे पंढरीनाथ,

ज़रा विचार कर कहिए तो सही कि मैं आप का दास कैसे नहीं हूँ। आप के पैरों को छोड़ और किस लिये मैं ने अपने संसार की होली जला दी ! ऐसी सत्यता में यदि धीरज न हो तो वह देना चाहिए या उसे उलटा जला ही डालना चाहिए ? तुकाराम के लिए तो इस दुनिया में, स्वर्ग में, तेरे सिवाय कुछ नहीं है।" ऐसी स्थिति में रखिए नाथ, अपना सब अपने ही पास रखिए। मुझे उस से क्या करना है ? मेरे मन में शांति है कि मैंने अपना काम किया। अब मैं क्यों फ़जूल विरोध करूँ ! जो कुछ करूँ उस में तकलीफ़ ही बढ़ कर यदि मेरे लिए केवल कष्ट ही बचें तो आप पर क्रुद्ध हो कर तुकाराम अपने हिस्से का सुख क्यों छोड़े ?" "अनन्य पुरुष तो सब प्रकार से एक ही बात जानता है। उस के मन में उस एक के सिवा दूसरा कुछ भी नहीं आता। अगर इस दशा में मेरी ही इच्छा पूरी न हो और मेरा देश-निकाला हो, तो क्या यह आप को सुहावना मालूम देता है ? बच्चे का तो सब भार माता के सिर पर रहता है। वह अगर उसे दूर भी करे तो भी बच्चे को फ़िक्र क्या ? तुकाराम का कहना है कि आप ऐसे समर्थ हो कर फिर इतनी देर क्यों ?" पर आप को समर्थ भी तो कैसे और किस के सामने कहूँ ? आप की कीर्ति भी कैसे बखानूँ ? मिथ्यास्तुति से क्या लाभ ? इस से तो यही बेहतर है कि आपकी पोल वैसे ही रहने दूँ। अगर दास कहलाऊँ तो उस की पहचान मेरे पास नहीं। मेरे पास है केवल दुर्दशा और फ़जीहत। अब तो आप की और मेरी ही मुँहमारी है। तुकाराम तो निर्लज्ज ही बन कर आप को टेर रहा है।" "पर मैं क्यों हठ करूँ ? आप की डुगडुगी तो फ़जूल ही बज रही है। यदि प्राण अर्पण करूँ तो क्या होगा ? पर मेरे इन शब्दों से यह तो बताओ कि आप को क्या लाभ होगा ? राजा अगर अपनी पोशाक न दे तो कम से कम भूखे को खाना तो उसे देना ही चाहिए। अब अगर आप मेरी उपेक्षा करें तो फिर यह दूकानदारी किस काम आवेगी ?" अपनी किसी बात से मैं कंदराया नहीं हूँ। मुझे तो डर इस बात का

है कि आप के नाम की क़ीमत नहीं रहती। हे गोविंद, आप की निंदा इन कानों से सुनी नहीं जाती। तुकाराम को लाज काहे की? वह तो अपने मालिक का काम करता है।" अगर आप मेरा कहा सुनते ही नहीं है तो फिर भूसे को व्यर्थ क्यों छानूँ? अब तो ऐसा करूँगा कि घर-बैठे आप मुझे समझाने के लिए मेरे पास आवें। जितने उपाय थे सब कर चुका। अब कहाँ तक राह देखूँ? तुकाराम तो समझता है कि आप की आज्ञा खतम हो चुकी। अब तो सीधा हो कर आप के पैरों पर ही पड़ा रहूँगा।" मन में ऐसे विचार करते हुए और मुख से विठ्ठल नाम का स्मरण करते हुए तुकाराम जी उस शिलातल पर तेरह दिन पड़े रहे।

अब तो भगवान् पर सचमुच ही बड़ा संकट आ पड़ा। तुकाराम जी की जान चली जाती, तो उन की क्या हानि थी? उन का मन तो हरिचरणों में लीन हो ही चुका था। पर लोगों में सब जगह यह बात फैल जाती कि श्रीविठ्ठल के लिए तुकाराम जी ने अपना देह छोड़ दिया। जिन लोगों की भक्ति-मार्ग पर श्रद्धा थी और जो तुकाराम को भगवद्भक्त मानते थे, उन की श्रद्धा पर बड़े ज़ोर से वार पड़ता और संभव था कि उन में से कुछ पूर्णतया नास्तिक बन जाते। यदि तुकाराम का कुछ दोष होता तो बात और थी। पर उस का दोष तो रत्ती भर भी न था। उस का पक्ष पूर्ण सत्यता का था। अर्थात् सच और झूट, भक्ति तथा अभक्ति, न्याय और अन्याय इत्यादि सद्गुणों के झगड़े का मौक़ा था और इस झगड़े की हार-जीत पर कई बातें निर्भर थी। तुकाराम जी की तो सब ही बात बिगड़ गई थी। घरबार की खाक पहले ही उड़ चुकी थी। जिसे वह परमार्थ समझते थे, वह भी अब स्वार्थ के साथ डूब चुका था। और दोनों तरफ़ के लोग उन की निंदा ही करते थे। इतना भी हो कर जिस श्रद्धा के आधार पर उन का जीवन था, उसी श्रद्धा का नाश होने का समय आ पहुँचा था। उन्हें या तो ईश्वर-साक्षात्कार इत्यादि बातें—स्वयं ईश्वर का अस्ति-

त्व भी—झूठ मानना पड़ता या उसी श्रद्धा के लिए जान देनी पड़ती। इसी पेंच में श्रीतुकाराम महाराज तेरह दिन पड़े थे। इस अवकाश में उन की प्रकृति बिल्कुल क्षीण हो गई थी। शरीर थक गया था। हाथ-पैर हिलाने की भी ताक़त न बची थी। तेरहवें दिन रात को आप को ख़ूब ही ग्लानि आई। पर आप का बराबर श्रीविट्ठल का स्मरण तथा चिंतन चल रहा था। जब कोई सुने तो 'राम कृष्ण हरि' 'राम कृष्ण हरि' के शब्द सुनाई देते थे। लोग समझ चुके कि अब इन का अंत-काल समीप आ पहुँचा है। पर स्वयं तुकाराम जी को विट्ठल-दर्शन हो रहा था और आप कह रहे थे कि "महाराज यह चित्त तो आप के स्वरूप में आसक्त हो, आप के पैरों से जा लिपटा है। आप का सुंदर मुख देखते ही अब दुःख का दर्शन हो नहीं सकता। सब इंद्रियाँ, जो इधर-उधर घूमते-घूमते दुखी हो रही थीं, आप के अंग-संग से पूर्ण-तया आराम पा चुकीं। तुकाराम को ईश्वर की भेंट होते ही उस के सब संसार-बंधन छूट गए।"

भक्तवत्सल भगवान् कहीं दूर थोड़े ही रहते हैं। वे तो भक्तों के हृदय में ही बसते हैं। उन्हें देखने के लिए कहीं दूर नहीं जाना पड़ता। अपने हृदय-दर्पण में ही उन्हें देखना होता है। अज्ञान के तथा अहंता के पटल जब तक उस दर्पण पर हैं, तब तक वह आत्मस्वरूप किसी को नहीं दीखता। पर अनुतापयुक्त आँसुओं के जल से वह मल का पटल धुलते ही उस में आत्मस्वरूप परमेश्वर का दर्शन होने लगता है। तुकाराम जी का यह पटल दूर होते ही उन्हें परमात्मा बालकृष्ण के स्वरूप में दिखाई देने लगे। इसी के साथ-साथ जल, थल, लकड़ी, पत्थर सब पदार्थों में वर्तमान परमात्मा को कभी-कभी कुछ चमत्कार दिखाने पड़ते हैं—जिन बातों को सामान्य प्रकृति नियमों के अनुसार हम नहीं देख सकते। ऐसी बातें देखने पर जड़प्रकृतिवादी-वैज्ञानिक उन्हें 'प्रकृति की मनमानी करतूत' समझते हैं। भाविक लोग जब कभी ऐसी आश्चर्य-जनक बात देखते हैं तो वे उसे 'भगवान् की अतर्क्य करनी' मानते

हैं। ऐसी ही एक अतर्क्य बात इस समय हुई। तुकाराम जी के कुछ भक्तों को स्वप्न आया कि 'तुकाराम जी के अभंगों का बस्ता इंद्रायणी में पानी पर तैर रहा है।' जगते ही वे लोग दौड़े आए। देखते हैं तो इधर तुकाराम जी निश्चेष्ट पड़े हुए हैं और उधर पानी में कुछ फूली हुई चीज़ तैर रही है। झट से दो-चार आदमी कूद पड़े और बस्ते को निकाल लाए। देखा तो पत्थर छूट गए हैं। ऊपर का कपड़ा भीग गया है, पर भीतर अभंग लिखे हुए कागज़ ज्यों के त्यों हैं। अब तो भक्तलोगों के आनंद की सीमा न रही। वे श्रीविट्ठल नाम की गर्जना करते हुए तुकाराम के पास आए। महाराज की दर्शन-समाधि खुली ही थी और वे आँखें खोल ही रहे थे कि इन लोगों की आनंद गर्जना उन के कानों में आई। लोग कहते थे "महाराज उठिए। आप की भक्ति से प्रसन्न हो परमात्मा ने आप के अभंग पानी में भी बचाए हैं। उठिए, देखिए।"

अंतःकरण में सगुण परमात्मा का साक्षाद्दर्शन होने का आनंद और बाहर लोगों द्वारा बस्ता खोल कर निकाले हुए सूखे अभंगों के कागज़ देखने का आनंद। तुकोबा भीतर-बाहर आनंद से ही भर गए। आप का जी भर आया। आँखों से आनंदाश्रु बहने लगे। 'आहा! परमात्मा ने मेरे अभंग पानी में भी बचाए अर्थात् परमात्मा को मेरे लिए तेरह दिन पानी में रहना पड़ा।' इस भोली भावना की लाभदायक कल्पना से ही, उन फूलों से भी कोमल मन के भक्तराज का हृदय पिघलने लगा। इसी सुख-दुःख मिश्रित प्रेम की अवस्था में आप के मुख से सात अभंग निकले। अभंग रचने की मनाही होने पर फेंके हुए अभंग पानी में तेरह दिन सूखे रह कर निकलने के बाद पहले पहले ही मुख से निकले हुए ये सात अभंग भक्तों ने उसी वक्त उतार लिए। अब आप की अभंग-वाणीको ईश्वर-प्रसाद का साथ मिलने से विशेष महत्त्व प्राप्त था। इस के बाद प्रायः आप के अभंग अन्यान्य लेखकों के ही हाथ के लिखे मिलते हैं। पर इन

अभंगों की मृदुता कुछ और ही है। ये सातों अभंग प्रेम-रस में सने हुए हैं। इन पर से उस समय की तुकाराम महाराज की मनः-स्थिति साफ़-साफ़ दिखाई देती है। आप कहते हैं—"महाराज, मैंने बड़ा अन्याय किया। मैंने आप का अंत देखा। लोगों के बोलने से अपना चित्त दुखाया। मुझ-से नीची जाति के अधम के लिए मैं ने आप को तकलीफ़ दी और आप को थकाया। तेरह दिन अपनी आँखें मूँद मैं यहाँ पड़ा रहा। भूख, प्यास और मन की इच्छा तीनों का भार आप पर डाला और अपना योग-क्षेम आप से ही कराया। पानी में काग़ज़ आप ने बचाए, मुझे लोक-निंदा से बचाया और इस तुकाराम के लिए आप ने अपना प्रण निबाहा।" "पर ऐसी क्या मेरे सिर पर तलवार पड़ी थी या पीठ पर वार आया था कि मैं ने इतना बखेड़ा मचाया। यहाँ मेरे पास और वहाँ पानी में दो जगह आप को ख़ुद खड़ा रहना पड़ा और इधर और उधर दोनों जगह मुझे आप ने ज़रा भी धक्का न लगने दिया। लड़का थोड़ा भी अन्याय करे तो माँ-बाप उस की जान लेने को तैयार होते हैं। फिर यह तो ज़रा-सी बात न थी। पर ऐसी बात को तो आप ही सह सकते हो। हे कृपावान् आप-सा दाता कौन है ? कहाँ तक आप के गुन बखानूँ ? तुकाराम की वाणी तो अब नहीं चलती।" कोई मेरी गर्दन काटे या दुष्ट तकलीफ़ दें, पर अब आप को कष्ट हो ऐसा कभी नहीं करूँगा। मुझ ऐसे चंडाल के हाथ से एक बार भूल हो गई। आप को पानी में खड़ा कर अपने अभंगों के काग़ज़ बचवाए। इस बात का विचार न किया कि मेरा अधिकार क्या। मैं न समझ सका कि समरथ पर भार कितना डालना चाहिए। हो गया सो हो गया। उस बारे में अब कुछ बोलना व्यर्थ है। अगले मौक़ों पर तुकाराम ये सब बातें ध्यान में रक्खेगा।" "हे पुरुषोत्तम, माता से भी कोमल, चंद्र से भी शीतल और पानी से भी पतला तू प्रेम की कलोल है। तेरी दूसरी क्या उपमा दूँ ? तेरे नाम पर से वार जाऊँ। अमृत तूने मधुर बनाया। सो तू अमृत से भी मधुर है। पंच तत्वों का

उत्पादक और सब सत्ता का नायक तू ही है। अब बिना कुछ बोले तेरे चरणों पर सीस धरता हूँ। हे पंढरीनाथ, तुकाराम के सब अपराधों को क्षमा करो।"

इस प्रसंग से तुकाराम की कीर्ति चारों ओर फैलने लगी। यह वार्ता कि परमेश्वर ने पानी में से, तुकाराम जी के अभंग बचाए, सब लोगों को ज्ञात हो गई। जिस समय यह वार्ता रामेश्वर भट जी के कानों पर पड़ी, उस समय वे कहाँ थे? आप ने ये वार्ता आकंदी में सुनी। उस समय आप आकंदी अपनी देह-पीड़ा निवारण करने के हेतु से अनुष्ठान कर रहे थे। आप के देह में जलन होती थी। यह जलन पैदा होने का कारण यों हुआ। तुकाराम जी ने अपने अभंग सचमुच नदी में फेंक दिए, यह वार्ता सुन कर रामेश्वर भट मन में दुखी हुए। वे स्वभाव से दुर्जन नहीं थे। लोगों के भड़काने से भड़क गए थे। इस लिए वह जोश कम होते ही आप को बुरा लगा। पर अब क्या? होना था सो हो चुका था। इसी मन की अवस्था में आप एक बार नागनाथ महादेव के दर्शन को गए। यह स्थान पूने में आज भी विद्यमान है। उस समय पूना बड़ा शहर न था। वह 'पुनवाड़ी' नाम की एक छोटी सी बस्ती थी और उस का 'लोहगाँव' कसबे में ही समावेश होता था। नागनाथ के दर्शन को जाने के पूर्व रामेश्वर भट जी नहाने के लिए एक बावली में उतरे। यह बावली आज तक भी पूने में मौजूद है। इसी बावली पर अनघड़शाह नाम का एक फ़क़ीर रहता था। उस ने रामेश्वर भट्ट जी से मना किया, पर आप ने न माना। स्नान करते ही आप के शरीर में जलन होना शुरू हुआ। दर्शन कर आप वापस गए, अनेक उपाय किए, पर जलन होती ही थी। इस जलन की शांति करने के हेतु से आप आकंदी जा कर अनुष्ठान कर रहे थे। शरीर तथा मन दोनों दुखी रहते हुए ही रामेश्वर भट जी ने यह तुकाराम के अभंग नदी में से सूखे निकलने की वार्ता सुनी। अब तो आप को अधिक ही बुरा मालूम होने लगा। इसी अवस्था में आप के स्वप्न में श्रीज्ञाने-

श्वर महाराज ने आ कर तुकाराम की क्षमा माँगने के लिए कहा। आप ने अपने एक शिष्य के हाथ तुकाराम जी के पास अपना क्षमा-पत्र भेजा। तुकोबा ने उस शिष्य का सत्कार कर पत्र को वंदन किया और पत्र पढ़ने के बाद उत्तर में एक अभंग लिख भेजा। अभंग का अर्थ यह था कि "अगर चित्त शुद्ध हो तो शत्रु भी मित्र हो जाता है। उसे बाघ या साँप खा नहीं सकता। उस के लिए विष भी अमृत बनता है, आघात हितकर होते हैं और बुरी बातें भी भली बन जाती हैं। दुःख भी सब प्रकार से सुख देने लगता है। आग की ज्वालाएँ ठंडी पड़ती हैं। वह प्राणि-मात्र को प्राणों से भी प्रिय होता है और उस के भी मन में सबों के प्रति एक ही भाव रहता है। तुकाराम समझता है कि नारायण की कृपा इसी अनुभव से जानी जाती है।" इस उत्तर को पढ़ते ही रामेश्वर भट जी के देह की जलन शांत हुई। थोड़े ही दिनों में रामेश्वर भट जी स्वयं श्रीतुकाराम महाराज के भक्त बन गए। महाराज भी आप का बहुत आदर करते और कई बातों में आप से सलाह लेते।

पहले दो साक्षात्कारों की अपेक्षा इस साक्षात्कार का महत्व अधिक था। तुकाराम की ईश्वर के प्रति जो श्रद्धा थी वह तो इस साक्षात्कार से बढ़ ही गई, परंतु इस साक्षात्कार के कारण तुकाराम जी के प्रति जो लोगों की श्रद्धा थी वह भी बढ़ गई। इस के बाद भी तुकाराम को कुछ लोगों ने कष्ट दिए, पर उन कष्टों की तुलना इस आपत्ति के साथ नहीं हो सकती। इस आपत्ति से तुकाराम जी के श्रद्धादि सब गुण कसौटी पर परखे गए और लोगों को ज्ञात हो गया कि यह माल बिल्कुल खरा है। श्रद्धा के अतिरिक्त तुकाराम जी का अब अधिकार भी बढ़ गया। अब आप अनुभव-युक्त वाणी से उपदेश करने लगे। परमात्मा भाव-भक्ति से दर्शन देता है, भक्त का संकट निवारण करता है, संतों का प्रतिपाल करता है, असंतों को सज्जन बनाता है इत्यादि बातें उन के मुख से निकलते समय अब केवल कोरी शब्दों में न रहती। अब उन

में अनुभव की सामर्थ्य रहती और इसी कारण वे शब्द अब केवल श्रोताओं के एक कान में से भीतर घुस दूसरे कान में से सीधे बाहर न निकल जाते पर ठेठ हृदय को स्पर्श कर उसे जगाते। अगली बारी के समय पंढरपुर में सब संतों में भी आप का बड़ा आदर हुआ। ज्ञानेश्वर, नामदेव और एकनाथ के साथ भक्त लोग संतों में तुकाराम का भी नाम लेने लगे।

इस प्रकार से श्री तुकाराम महाराज संकटों की कसौटी पर परखे गए। इस के बाद भी उन के क्रोध की परीक्षा दो बार हुई, पर दोनों बार पूर्णतया विजयी हुए। पहला प्रसंग आप पर लोहगाँव में आया। पहले एक बार हम कह आए हैं कि श्रीतुकाराम महाराज के कीर्तन लोहगाँव में बहुत होते थे। इस गाँव के लोगों की श्रीतुकाराम पर इतनी भक्ति थी कि उन की मृत्यु के पश्चात् लोहगाँव के लोगों ने वहाँ श्रीतुकाराम जी का मंदिर बनाया। लोहगाँव छोड़ अन्यत्र कहीं भी आप का मंदिर नहीं है। महाराष्ट्र की तीन विभूतियों में से श्री समर्थ रामदास स्वामी जी के कई मंदिर पाये जाते हैं पर श्री शिवाजी महाराज का केवल मालवण में और श्री तुकाराम महाराज का केवल लोहगाँव में। इस गाँव में श्री तुकाराम जी पंढरी से लौटते समय प्रायः कुछ दिन ठहर कर कीर्तन करते थे। यहीं पर शिवजी कासार नाम का एक लोहे-ताँबे के बर्तनों का व्यपार करने वाला एक दूकानदार रहता था। यह बड़ा मालदार था। इस के पास सामान लादने के लिए पांच सौ से अधिक बैल थे। यह स्वभाव से बड़ा कृपण, कुटिल और निर्दय था। लोहगाँव के सब लोग श्रीतुकाराम जी का अमृत से भी मधुर कीर्तन सुनने जाते पर शिवजी कभी भूल कर भी न जाता। उलटा घर बैठ तुकाराम की हँसी उड़ाता और निंदा करता। इस की स्त्री भी इसी के स्वभाव की, बल्कि कुछ बातों में इस से भी सवाई थी। एक दिन कुछ लोगों के बड़े आग्रह से शिवजी कीर्तन सुनने गया। कीर्तन में तुकोबा की प्रासादिक-वाणी से प्रेम-

भरा प्रवचन सुन शिवजी का मन बहुत ही प्रसन्न हुआ। दूसरे दिन फिर गया। उस का भक्तिभाव बढ़ता ही गया और एक सप्ताह के भीतर ही वह तुकाराम जी का भक्त बन गया। एक दिन उस ने संतों को तुकाराम जी के साथ भोजन का निमंत्रण दिया। शिवजी तो बदल गया था पर उस की स्त्री न तो कीर्तन सुनने गई थी न मन में पलटी थी। इस घरबार डुबोनेवाले तुकाराम जी का भक्त बन अपना पति भी घरबार न डूबो दे, इस भीति से और क्रोध से उस महामाया ने तुकाराम जी को नहलाते समय उन के शरीर पर उबलता पानी डाला।" महाराज के शरीर के रोम सब झुलस गए और जहाँ पानी की धार पड़ी वहाँ फफोले निकल आए। शरीर में बड़ी दाह होने लगी। तुकाराम जी को शिवजी की स्त्री के विषय में थोड़ा-बहुत लोगों ने कहा भी था और थोड़े-बहुत विरोध की आप ने अपेक्षा भी की थी। पर इस राक्षसी-कृत्य की कल्पना किसी को न थी। पर इस हालत में भी केवल श्रीविट्ठल का नामस्मरण करने के सिवा आप ने कुछ भी क्रोध न किया। शिवजी का जी व्यथित हुआ पर बेचारा क्या कर सकता था। अपने ही दाँत और अपने ही ओंठ। तुकाराम जी मुक़ाम ख़तम होने पर देहू चले आए। पीछे कुछ दिनों के बाद उस स्त्री के शरीर पर कुष्ठ के दाग़ दिखाई देने लगे। वह बहुत घबराई और मन में समझी कि उस की दुष्टता का ही वह दंड था। अंत में रामेश्वर भट जी की सलाह से जिस स्थान पर तुकाराम जी को नहलाया था वहीं की मिट्टी बदन में मली गई और वे दाग़ ग़ायब हो गए। शिवजी के साथ उस की स्त्री भी तुकाराम की भक्त बन गई और श्रीविट्ठल की सेवा करने लगी।

पाठक इस से यह न समझ लें कि तुकाराम जी को कुछ सिद्धि प्राप्त हुई थी; या उन के शाप से ही ये बातें हुई थीं। यद्यपि रामेश्वर भट जी के तथा शिवजी की स्त्री के विषय में यह कल्पना की जा सकती है, तथापि इस कल्पना में सत्यता का बहुत अंश नहीं। इस

दुनिया में जो अनेक अतर्क्य बातें होती हैं, उन्हीं में से थीं। शाप की कल्पना भी तुकाराम के विषय में की नहीं जा सकती। उस शांत और क्षमाशील भगवद्भक्त ने क्रोध पर विजय पाई थी। जहाँ क्रोध नहीं, वहाँ शाप-वाणी मुख से कैसे निकले? इस की अपेक्षा तो यही कहना अधिक उचित होगा की ईश्वर को उन की बुद्धि बदलनी थी और उसे बदलने के लिए ये बातें निमित्तमात्र हुईं। या ऐसा कहें कि उन की दुष्टता उस चरम सीमा को न पहुँची थी, जहाँ कि सुधार असंभव है। उन्हीं के मन में एक प्रकार का अनुताप हुआ जिस से कि वे शुद्ध हो कर सुधर गए। पर सभी दुष्ट इस प्रकार से सुधरते नहीं है। कुछ दुष्ट लोगों की दुष्टता इस हद को पहुँच जाती है कि वहाँ ईश्वर को भी हाथ मल कर चुप रहना पड़ता है। इसी प्रकार का एक ब्राह्मण देहू में ही बिल्कुल तुकाराम के पड़ोस में रहता था। उस का नाम मंबाजी बुवा था। यह देहू में महंत समझा जाता था और लोगों को मंत्रोपदेश तथा अन्य दांभिक प्रकार से भुला कर उन से पैसे कमाता था। श्री-तुकाराम जी की कीर्ति बढ़ती हुई देख और रामेश्वर भट जी के-से विद्वान् ब्राह्मणों को उन का शिष्य बना हुआ देख यह मन ही मन में जलता। यह प्रायः हर एकादशी को तुकाराम का कीर्तन सुनने जाता और कई बार उसे तुकोबा भी बड़े आदर से बुलाते। पर इस के मन पर उस कीर्तन-वचन का कुछ भी असर न होता। ठीक ही है यदि घड़ा नीचे को मुँह कर औंधा ज़मीन पर रक्खा जावे, तो चाहे कितनी भी पानी की वर्षा ऊपर से क्यों न हो, उस के भीतर एक बूँद भी न जाने पावेगा। मंबाजी तुकाराम की यथेष्ट निंदा करता, तुकाराम कीर्तन में आनेवाले लोगों से लड़ता, उन्हें तकलीफ़ देता और अपना ही उपदेश लेने की सलाह देता। सारांश, जितना कुछ हो सकता था, सब करता। पर एक दिन उसे ऐसा मौक़ा मिला कि उस के मन के अरमान भी पूरा हो गये और तुकाराम जी की शांति भी पूरी कसौटी पर परखी गई।

हम पीछे कह चुके हैं कि तुकाराम जी के घर के सब काम जिजाई और कान्होबा देखते थे। तुकाराम जी को एक और पुत्र हुआ था जिसका नाम महादेव था। इस लड़के को दूध पिलाने के लिए जिजाई अपने घर से एक भैंस ले आई थी। एक एकादशी के दिन वह भैंस मंबाजी बुवा की फुलवाड़ी में घुस गई। यह फुलवाड़ी तुकाराम जी के घर के पास थी और फुलवाड़ी और घर के बीच में से होकर श्रीविट्ठल मंदिर को जाने की राह थी। फुलवाड़ी के चारों ओर काँटे लगे थे ताकि जानवर भीतर न जावें। पर तुकाराम जी की भैंस ने उन काँटों की परवाह न कर उस दिन उस फुलवाड़ी में प्रवेश किया और मंबाजी बुवा के फूल के पेड़ों में से कुछ खा डाले और कुछ कुचल डाले। जब उसे फुलवाड़ी में किसी ने हाँका तो दूसरी ही जगह से भागी और उसके दौड़ने से रास्ते भर वे काँटे फैल गए। एकादशी का दिन था, रात को कीर्तन होने वाला था, और कीर्तन के मार्ग में भैंस ने काँटे फैला दिए; यह देख श्रीतुकाराम महाराज खुद जाकर काँटे झाड़, रास्ता साफ़ कर रहे थे कि मंबाजी बुवा घर आ पहुँचे। उन्हें भैंस के अत्याचार की खबर दी गई। क्रोध से भभूके होकर फुलवाड़ी में आकर देखा तो कई पेड़ों का नाश नज़र पड़ा। क्रोध का ठिकाना न रहा। उसी गुस्से में तुकाराम जी की मूर्ति काँटे साफ़ करती हुई नज़र आई। क्रोध दिखलाने के लिए स्थान मिल गया। मंबाजी ने उन्हीं काँटों में से एक काँटे की छड़ी उठाई और तुकाराम जी की खुली पीठ पर फटकारना शुरू किया। हाथ से फटकार और मुख से गालियाँ। तुकाराम जी शांतिपूर्वक वहीं खड़े रह गए। चार-पाँच फटकार मारने पर कई जगह से जब लोहू बहने लगा, तब मंबाजी का क्रोध शांत हुआ और वे अपने घर चले गए। इधर तुका-राम जी महाराज चुपचाप विट्ठल-मंदिर में आए और मन की बातें श्रीविट्ठल से अभंग रूप में कहने लगे। आप ने कहा—"हे विठोबा, कुछ भी तकलीफ़ जान पर आ पड़े, पर तेरे चरणों को मैं न छोड़ूँगा,

न छोड़ूँगा, न छोड़ूँगा । इस देह के कोई शस्त्र से काट कर सौ-सौ टुकड़े क्यों न करे पर मैं नहीं डरूँगा, क्योंकि इस तुकाराम ने अपनी बुद्धि पहले ही से सावधान कर रक्खी है।" आप ने आगे कहा—"हे विठोबा बहुत अच्छा किया, बहुत अच्छा किया कि मेरी क्षमा की सीमा देखने के लिए मुझे काँटों से मरवाया। गालियों की तो कुछ मर्यादा ही न रही। कई प्रकार से मेरी फ़ज़ीहत हुई, पर यह बहुत अच्छा हुआ कि क्रोध के हाथ से मुझे छुड़वा लिया।" इस का नाम क्षमा और इसी का नाम साधुता है क्रोध या दुःख रहा दूर, ऊपर आनंद इस बात का कि क्रोध के हाथ से छूट गए। पर धन्य है मंबाजी के भी क्रोध को और दुष्टता को कि आप ने तुकाराम के से शांति-सागर से भी कहलाया कि "हे देव, अब ऐसे दुर्जनों की संगति बहुत हुई।" इस के प्रायश्चित्त में कि ऐसे भी शब्द मुख से निकल गए, आप ने जा कर उलटी मंबाजी की ही क्षमा-याचना की और उसे आदर-पूर्वक कीर्तन में बुला लाए। मंबाजी ने केवल इतना ही कहा कि "पहले ही क्षमा माँगते तो इतना बखेड़ा क्यों होता ?"

मंबाजी ऐसे पुरुषों का या शिवाजी की स्त्री ऐसी स्त्रियों का विचार मन में कर के और उन के द्वारा तुकाराम ऐसे सत्पुरुषों को दिए हुए दुःख का दृश्य आँखों के सामने आते ही चित्त उद्विग्न हो जाता है। मन में ऐसा भी विचार आए बिना नहीं रहता कि विधाता ने इन लोगों को दुनिया में क्यों पैदा किया। पर विचार अधिक करने से यह पूर्वोक्त विचार ठहरता नहीं है। यदि दुनिया अच्छे ही अच्छे लोगों से भरी होती, तो सज्जनों की कोई भी क़दर न करता। आज गुणों को जो महत्व प्राप्त हुआ है, वह केवल दोषों के ही कारण है। जब तक बुरी बात आखों के सामने नहीं आती, तब तक अच्छी बात की क़ीमत ही ध्यान में नहीं आती। तुकाराम महाराज ने बहुत ठीक कहा है कि "बुरे के कारण भले की और कम असल के कारण असल की क़दर होती है। एक के बिना दूसरे की कुछ क़ीमत नहीं। वह व्यर्थ है।

विष अमृत की योग्यता बढ़ाता है। उसी प्रकार कड़ुवा मीठे की और हानि लाभ की। अँधेरे के कारण प्रकाश को और रात के कारण दिन को महत्व है। ऊँचा, नीचा, पत्थर, हीरा इत्यादि पदार्थ एक के बिना एक व्यर्थ हैं। तुकाराम कहते हैं कि "दुर्जनों ही के कारण सज्जन पहचाने जाते हैं।" पर फिर भी अंत में यह कहे बग़ैर नहीं रहा जाता कि परमात्मा ऐसे लोगों से बचावे।

सप्तम परिच्छेद : सिद्धावस्था और प्रयाण

खग जाने खग ही की भाषा

सांसारिक पुरुषों की दृष्टि से श्रीतुकाराम महाराज की जीवनी उन के सिद्ध होते ही समाप्त हो चुकी। सिद्धावस्था को पहुँचने के बाद तुकाराम जी ने जो कुछ किया उस की ओर दो दृष्टियों से लोग प्रायः देखते हैं। एक भक्तों की दृष्टि से और एक सांसारिक दृष्टि से। भक्तों को तुकाराम जी में और ईश्वर में कुछ भेद ही न दीखता था। वे उन को ईश्वर स्वरूप ही मानते थे। अतएव उन सब बातों में, जो कि सृष्टि के नियमों के अनुसार अतर्क्य समझी जाती थीं और जिन के लिए किसी न किसी प्रकार से तुकाराम जी निमित्त कारण थे, भक्त लोग उन्हें ही मुख्य कारण समझते हैं। पक्षांतर में उन सब बातों के लिए जो कि सृष्टि-नियमों के अनुसार हो रही थीं, और जिन के लिए भी तुकाराम जी केवल निमित्त मात्र ही थे, अभक्त लोग उन्हें ही दोष देते हैं। उदाहरणार्थ तुकाराम के भावी चरित्र में जो कुछ दैवी चमत्कार हुए उन का कारण भक्त लोग तुकाराम को ही समझते हैं, तो घर-बार का फ़िक्र न करना, पर एक के पीछे एक संतान पैदा करते ही जाना, उन के पेट की, लड़कों की शिक्षा की या लड़कियों के विवाह की कुछ फ़िक्र न करना इत्यादि बातों का दोष अभक्त लोग तुकाराम जी के ही सिर पर मढ़ते हैं। पर वास्तव में देखा जाय तो श्रीतुकाराम महाराज ने पहले प्रकार की बातों के लिए न दूसरे प्रकार की बातों के लिए जवाबदार समझे जा सकते हैं। उन की दृष्टि से जब सब संसार स्वप्न-सा मिथ्या था तो संसार में जो कुछ बातें हो रही थीं वे भी सब मिथ्या थीं और इस सत्य-मिथ्या के झगड़े में वे यदि सदा सत्य का ही पक्ष लेते और झूठी बातों की परवाह न करते तो उस में उन का क्या दोष था? मंबाजी के हाथ से काँटों की पीठ छड़ी पर पड़ते हुए उन

का देह जैसे अवश्य लोहू से भर गया वैसे ही स्त्री समागम के समय उन के देह को सुख भी मिला। परंतु जिस प्रकार पहले देह-दुःख से उन्हों ने अपना मन न दुखाया, प्रत्युत जो कुछ ईश्वरी इच्छा से हुआ उसी में सुख ही माना, उसी प्रकार संतति को देख भी उन्हों ने अपने मन को उस में न लुभाया। वे तो पूर्ण विरक्त-स्थिति से इस संसार में रहते थे। ईश्वर-स्वरूप का दर्शन हो कर हृदय-पटल पर का मल दूर होते ही वे मुक्त हो चुके थे। पर जब तक देह था, देह के धर्म सृष्टि नियमों के अनुसार हो रहे थे। उन कामों के लिए या उनसे प्राप्य फलों के लिए न उन की इस प्रकार की इच्छा थी न उस प्रकार की। सुख तथा दुःख दोनों विषय में वे एक से ही अनासक्त थे। अर्थात् एक प्रकार के कामों के लिए न उन की स्तुति की जा सकती है; न सिद्धावस्था में किए हुए दूसरे प्रकार के कामों के लिये निंदा। अतएव इन सब प्रसंगों पर कुछ टीका-टिप्पणी न करना ही उचित है। जो प्रसंग भले या बुरे आ गुज़रे उन का निषेध न भक्त कर सकते हैं न अभक्त। बातें वही हैं, केवल भेद है इस विषय में कि तुकाराम जी पर उन के गुण-दोष कितने लादे जा सकते हैं। सो इस झगड़े में न पड़ दोनों प्रकार की कुछ बातों को संक्षेप में लिख कर और उन के प्रयाण का वर्णन कर यह जीवन-खण्ड से भरा हुआ पूर्वार्द्ध पूरा करने का विचार है।

सब से पहले जिस संसार को तुकाराम झूठ समझते थे उसी संसार में उन के गृह-कृत्यों का विचार करें। गत परिच्छेदों में तुकाराम की दो संतान का उल्लेख आ चुका है—कन्या काशी और पुत्र महादेव। जिजाई के और भी चार संतान हुई। अर्थात् कुल मिला कर छः संतान थीं, जिन के नाम क्रम से काशी, महादेव, भागीरथी, विठ्ठल, गंगा और नारायण थे। काशी सब से बड़ी थी और घर के कामों में जिजाई की बड़ी मदद करती थी। वह जिजाई की आज्ञानुसार चलती और कई बार तुकाराम जी के लिए खाने-पीने की चीजें ले कर उन्हें

भंडारा के पहाड़ पर पिता के पास पहुँचा आती। जिजाई तो संसार-दुःख से कँदरी थी ही। कई बार अपने संसार की ओर दुर्लक्ष्य करने के विषय में वह तुकाराम से बोलती। पर नींद में बकवाद करनेवाले के बकने पर जैसा कोई जागता पुरुष ध्यान नहीं देता, वैसे ही उस के बोलने पर तुकाराम जी कुछ न ध्यान देते। उलटे हँसते और उसे संसार का मिथ्यात्व समझाते जो उसे कभी न समझ में आता। काशी के आठ-दस साल की हो जाने के बाद एक दिन जिजाई उस के विवाह के विषय में तुकाराम के पीछे पड़ी। आप ने सुना और एक दम उठे। बाहर आ कर कुछ लड़के खेलते थे उन में से दो लड़कों का हाथ पकड़ घर में ले गए और चार ब्राह्मणों को बुला कर काशी और भागीरथी की हल्दी चढ़ाई और टीका निश्चित किया। तुकाराम जी के समधी होने का भाग्य समझ उन लड़कों के माता-पिता ने इन्कार नहीं किया और दोनों विवाह हो गए। महादेव और विठ्ठल दोनों दिन भर बाहर खेलते रहते। उन्हें शिक्षा देने का किसी ने प्रबंध न किया। दिन-रात जिजाई की बातें सुनते-सुनते कुछ आश्चर्य नहीं कि उन के मन में तुकाराम जी के विषय में कुछ आदर न रहा हो। तुकाराम जी के पश्चात् इन दोनों का भी नाम विशेष सुनने में न आया। गंगू का भी विवाह इसी प्रकार से हो जाता अगर वह बड़ी होती। उस का विवाह तुकाराम की मृत्यु के पश्चात् हुआ। तुकाराम जी के इन तीनों दामादों के कुल-नाम मोझे, गाड़े और जांबुढ़कर थे। लड़कियों में केवल भागीरथी पितृ-भक्त तथा भगवद्भक्त थी। उस का पति मालाजी भी तुकाराम जी का भक्त था। तुकाराम जी ने उसे एक गीता की पोथी दी थी जिस से वह नित्य गीता-पाठ करता। तुकाराम जी के पुत्रों में सब से कनिष्ठ नारायण था। इस का जन्म पिता की मृत्यु के चार महीने पश्चात् हुआ। अर्थात् इस ने पिता का मुख भी न देखा था। परंतु तुकाराम जी के पश्चात् इसी पश्चाज्जात लड़के ने उन का नाम चलाया। श्रीशिवाजी महाराज से

इस ने फिर देहू गाँव की महाजनी के अधिकार प्राप्त किए और मंदिर के इनामी गाँवों की तथा मंदिर की देख-भाल इसी ने अपने हाथों में ली। आज भी देहू का मंदिर तथा वहाँ के अधिकार इसी के वंशजों के हाथ में है।

अब जो कुछ चमत्कार तुकाराम जी के चरित्र में पाए जाते हैं, उन्हें भी संक्षेप में पाठकों को सुनावें। इंद्रायणी के तीर पर तुकोबा प्रायः भजन करने बैठते। एक बार पास के ही खेतवाले ने इन से कहा, 'महाराज, आप भजन करने बैठते ही हो। मेरा खेत भी यहीं पास है। अगर आप यहाँ बैठे-बैठे खेत की निगरानी करें, तो मैं आप को बीस सेर जवार दूँगा।' महाराज ने बात मान ली और खेत के पास भजन करने बैठे। हाथ में झाँझ, मुख से अभंग। झाँझ की आवाज़ से प्रायः पखेरू खेत पर न आते। एक दिन जब कि जवार बिल्कुल कटने को थी, आप ध्यान में मग्न हुए। झाँझ की आवाज़ बंद हो गई। चिड़ियों को खुला खेत मिला। वे आ बैठीं और खेत चुगने लगीं। थोड़ी देर में आप के भजन का आरंभ होते ही चिड़ियाँ उड़ने लगीं। आप समझे कि आप के डर से ही वे उड़ीं। देख कर खेद हुआ और मुख से अभंग निकला कि "पांडुरंग विट्ठल की कृपा का विश्वास तो तभी कहना चाहिए, जब कि प्राणि-मात्र एक-सा दिखाई दे। मुझ से शंका करने का किसी को कारण नहीं। मुझे तो सब दुनिया एक रूप है। तुकाराम जिसे-जिसे देखता है, उसे वह आप ही-सा समझता है।" विचार में मग्न होते ही फिर से चिड़ियाँ खेत पर बैठने लगीं। इसी बीच में वह किसान भी कहीं से आ निकला। देखा तो चिड़ियाँ खेत चुग रही हैं। तुकाराम जी को क़बूल किया धान्य न देना पड़े, इस लिए किसान पंचों के पास जाकर बोला, "तुकाराम जी के खेत को देखते-देखते ही चिड़ियाँ खेत खा गई हैं। मेरा लगभग सौ मन का नुक़सान हुआ है। अब क्या किया जावे।" पंचों ने आकर जवार कटवाई। देखा तो लगभग डेढ़ सौ मन दाना निकला।

किसान की बदमाशी समझ पंचों ने निर्णय दिया कि सौ मन जवार उस किसान को दी जावे और बाक़ी तुकाराम जी के घर पहुँचाया जावे। बोरियाँ भर तुकाराम के घर भेजी गईं। जिजाई बड़ी ख़ुश हुई। पर तुकाराम जी अड़ बैठे। बोले बीस सेर से दाना अधिक न लिया जावेगा। जिजाई चिल्लाने लगी 'बोरी घर आती है, पर तो भी ये कभी सुख से बच्चों को न खाने देंगे। ये तो लोगों का ही भरेंगे और चोट्टे खाने वाले इसे खा जावेंगे।' आखिर पंचों की राय से कुछ दाना ब्राह्मणों को बाँटा गया और बाक़ी दाने की क़ीमत से मंदिर की मरम्मत कराई गई।

तुकोबा और जिजाई के ऐसे झगड़े कई बार होते थे। एक बार एक गन्ने के खेतवाले ने तुकोबा और कुछ संतों को रस पीने के लिए बुलाया। जाते-जाते जिजाई ने जताया कि 'देखो जी, वह खेतवाला तुम्हें कुछ गन्ने ज़रूर देगा। सँभाल कर उनको घर ले आइयो।' हुआ वैसा ही। रस पिलाने के बाद गन्नेवाले ने दस-बारह गन्ने बाँध कर इन्हें घर ले आने के लिए दिए। घर लौटते समय रास्ते में कुछ लड़के 'तुकोबा गन्ना, तुकोबा गन्ना,' कहते इन के पीछे पड़े। लड़कों को नहीं कैसे कहा जाय? एक-एक टुकड़ा कर आप लड़कों को गन्ने बाँटने लगे। आखिर घर आते वक़्त एक गन्ना दाहिने हाथ में और एक बाएँ में—बस ऐसे दो गन्ने लेकर महाराज घर पधारे। इधर जिजाई को पहले ही खबर लग चुकी थी कि महाराज गन्ने बाँटते आ रहे हैं। उन्हें दो ही गन्ने हाथ में लिए देख जिजाई क्रोध से जलने लगी। जब तुकाराम जी ने दो ही गन्ने सामने लाकर रक्खे, उस ने दोनों उठा कर ज़ोर से ज़मीन पर फेंक दिए। दो के चार टुकड़े हुए। जिजाई को बिगड़ता देख आप हँस पड़े और बोले, "क्या अच्छी बाँट हो गई। एक टुकड़ा मुझे और एक तुझे। बाक़ी दो दोनों लड़कों के। एक महादेव का और एक विठोबा का हिस्सा। झगड़े का काम ही नहीं।" जिजाई के क्रोध का रूपांतर हँसी और आँसुओं में होने लगा।

आप मुसकुरा कर बोले, "बादल के इतने ज़ोरों से गरजने के बाद बिजली की चमक तथा पानी की वर्षा होनी ही चाहिए।"

लोहगाँव में तुकोबा के कीर्तन बहुत होते थे और सब गाँव का गाँव इन कीर्तनों को सुनने के लिए दौड़ा आता था। इस गाँव के पटेल अंबाजी पंत कुलकर्णी तुकाराम जी के परम भक्त थे। एक बार जब कि तुकोबा लोहगाँव आए, अंबाजी पंत का लड़का घर में बहुत बीमार था। कीर्तन के लोभ से आप घर में लड़के को उस की माँ के पास छोड़ जाने लगे। आप की पत्नी और पड़ोसी बहुत नाराज़ होने लगे। दुनियादारी में ऐसे मौक़े क्या थोड़े आते हैं, जब अपनी नौकरी के लिए मरता हुआ बच्चा घर छोड़ लोगों को जाना पड़ता है! पर उस समय कोई कुछ नहीं कहता। परंतु यदि कोई बीमार बच्चे को छोड़ कीर्तन-भजन को जावे तो सांसारिक लोगों का माथा ठनक पड़ता है। कई लोग अंबाजी पंत पर नाराज़ हुए। पर आप ने किसी की न मानी। कीर्तन को जा ही बैठे। इधर घंटे आध घंटे में बच्चे की साँस बंद हो गई। माँ की क्रोधाग्नि में शोकाग्नि भी आ मिली। पड़ोसियों की बातों ने ईंधन का काम किया। शोक-क्रोध से जलती मा बच्चे को उठा कर वैसा ही कीर्तन में ले आई और तुकोबा के सामने बंद साँस का वह बच्चा उसने रख दिया। कीर्तन में खलबली मच गई। तुकोबा ने बच्चे की ओर देखा, लोगों को शांत किया और अभंग गाने लगे। "हे नारायण, अचेतन को सचेतन करना आप के लिए असंभव नहीं। आप ने जैसी सामर्थ्य पुराण-काल में दिखाई थी, वैसी ही आज दिखावें तो क्या हानि है? इसी काल में वह सामर्थ्य क्यों न दिखाई दे? यह क्या थोड़ा है कि आप ऐसे सर्व-शक्तिमान् स्वामी के हम लोग दास कहलाते हैं? तुकाराम की तो यह प्रार्थना है कि अपनी सामर्थ्य दिखा कर एक बार तो हम लोगों के नेत्रों को कृतार्थ कीजिए।" गाते-गाते आप ने श्रीविट्ठल नाम का घोष शुरू किया। सब सभा ताली बजाती विट्ठल-विट्ठल कहती भजन करने लगी। बच्चे

की भी साँस खुल गई। उसने आँखें खोल दीं और वह भी अपने नन्हे-नन्हे हाथों से तालियाँ बजाने लगा।

वही लोहगाँव का स्थान और वही श्रीतुकाराम महाराज के कीर्तन का प्रसंग। आज श्रोताओं की ख़ूब भरमार है क्योंकि आज ख़ुद श्रीशिवाजी महाराज कीर्तन सुनने पधारे हैं। शिवाजी महाराज का घोड़ा और जवाहर भेज कर श्रीतुकाराम जी को बुलाने का हवाला पहले एक बार हम दे चुके हैं। जवाहर वापस भेजने के कारण और साथ भेजे हुए अभंगों के पढ़ने से तुकोबा की जो निस्पृहता दीखती थी, उस पर शिवाजी बड़े प्रसन्न हुए। यदि तुकोबा जी दर्शन देने नहीं आते, तो स्वयं ही शिवाजी ने उनके दर्शन को जाने का निश्चय किया। श्रीशिवाजी के सलाहकार लोगों ने इस साहस कर्म से शिवाजी को मना किया, क्योंकि लोहगाँव उस समय मुसलमानों के शासन में था और वहाँ जाने से महाराज के पकड़े जाने का भय था। पर आप ने किसी का कहना न माना और सादी पोशाक में लोहगाँव आकर श्रोताओं में आ बैठे। इधर मुसलमानों को ख़बर लगी कि शिवाजी महाराज कीर्तन सुनने के लिए आए हैं। फ़ौरन शिवाजी को पकड़ने के लिए पठानों की फ़ौज भेजी गई। शिवाजी महाराज के दस-बीस अनुचर जो आप का रक्षण करने आए थे, यह खबर सुन कर व्यथित हुए और उन्हों ने आकर शिवाजी को यह खबर दी और शिवाजी को चले जाने की सूचना दी। किसी अवस्था में कीर्तन छोड़ कर न जाने पर तुकाराम जी का प्रवचन ज़ोर-ज़ोर से हो रहा था। अतएव शिवाजी के मन में यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि क्या किया जावे। तुकोबा से पूछा गया पर आप अपने व्रत पर अड़े रहे और कह दिया कि "कुछ चिंता न करो। किसी प्रकार के संकट से डरने की आवश्यकता नहीं। नारायण अपने दासों की सदा सहायता करता है, और स्वयं उन की रक्षा करता है। भक्तों को न तो कुछ करने की ज़रूरत न कुछ बोलने की। तुकाराम के मत से इस विषय में शंका ही न

करनी चाहिए और एक अक्षर भी न बोलना चाहिए।" शिवाजी को इस प्रकार से दिलासा दिया और कीर्तन में विठोबा ने पुकार शुरू की "हे देव, इस प्रकार की पीड़ा आँखों से नहीं देखी जाती। दूसरों को दुखी देख मेरा चित्त दुखी होता है। क्या ऐसा हो सकता है कि आप यहाँ पर न होंगे? हमें तो कम से कम ऐसा न दिखाई देना चाहिए। जहाँ हरिदास होंगे वहाँ पर शत्रुओं की फ़ौज कैसे ठहर सकती है? हरिदासों का स्थान तो वे आँखों से भी न देख सकेंगे। अगर इस के विरुद्ध कुछ हो जावे, तो तुकाराम की सेवा को लाज आवेगी और उसका जीवन किसी काम का न रहेगा।" तुकोबा का प्रवचन बड़े ज़ोर से हो रहा था कि कुछ शिवाजी के-से लोग घोड़ों पर से दौड़े और उन्हें शिवाजी और मराठे सिपाही जान पठान उन का पीछा करने चले। आखिर ये पहाड़ी चूहे पहाड़ों में भाग गए और पठान ताकते ही रह गए। कीर्तन समाप्त होने पर शिवाजी महाराज भी तुकाराम जी को वंदन कर और उनका आशीर्वाद शीश पर धारण कर वापस गए।

इस चरित्र के पाठक यह बात न भूले होंगे कि आकंदो का स्थान अनुष्ठान करने के लिए प्रसिद्ध था। उन दिनों श्रीज्ञानेश्वर बड़े जागृत देवता माने जाते थे। रामेश्वर भट अपने शरीर का दाह शांत करने के लिए यहीं अनुष्ठान करने गए थे। उसी प्रकार अनेक लोग—विशेषतः ब्राह्मण—वहाँ जाकर अनेक प्रकार की कामना से अनेक प्रकार के अनुष्ठान करते थे। धन और ज्ञान-प्राप्ति करने के लिए एक ब्राह्मण ज्ञानेश्वरजी के पास बयालीस दिन अनशन करता अनुष्ठान आकर रहा था। बयालीसवीं रात को उसे स्वप्न हुआ कि "तुकाराम जी के पास देहू जाओ। वहाँ तुम्हारे मनोरथ पूरे होंगे।" ब्राह्मण ने आकर श्रीज्ञानेश्वर जी का संदेश तुकाराम जी से कहा। तुकाराम जी को इस प्रकार की प्रतिष्ठा से घृणा थी। पर श्रीज्ञानेश्वर जी की आज्ञा मान, उन्हों ने दूसरे एक भक्त की ओर से आया हुआ नारियल उस

349

ब्राह्मण को दिया और ग्यारह अभंग उसे लिख दिए। ब्राह्मण की तुकाराम के प्रति श्रद्धा न थी। उस ने वे अभंग और वह नारियल वहीं छोड़ वहाँ से कूच किया। इतने ही में श्रीशिवाजी महाराज के पुराणिक का पानी भरने वाला ब्राह्मण कोंडोवा वहाँ आया। तुकाराम जी ने वे अभंग नारियल के साथ उसे दे डाले। अभंगों में बड़ा अच्छा उपदेश किया था कि "ईश्वर के पास मोक्ष इत्यादि पुरुषार्थों की गटरी नहीं है कि वह अलग उठाकर तुम्हारे हाथ में रख दे। इंद्रियों को जीत कर और मन को क़ाबू में रख किसी साधना के लिए निर्विषय-निरिच्छ होना चाहिए। उपवास, पारण, व्रत, वेदमंत्रों के पाठ इत्यादि सब कर्मों का फल शांत है अर्थात् उस का फल थोड़े नियमित दिन तक ही मिलता है। सावधानता से मन की इच्छाएँ दूर की जावें तो दुःख की प्राप्ति सुलमता-पूर्वक टाली जा सकती है। स्वप्न में लगे घावों से व्यर्थ रोने वालों के साथ तुम भी क्यों रोते हो। तुकाराम के मन से फल प्राप्त करना हो तो जड़ को सँभालना चाहिए और सब काम छोड़ ईश्वर की शरण लेनी चाहिए।" कोंडोवा ने श्रद्धा-पूर्वक अभंगों का पाठ किया और थोड़े ही दिन में विद्याभ्यास कर वह अच्छा पंडित हो गया। कुछ दिन बाद जब कोंडोवा ने नारियल फोड़ा तो उस के भीतर से सुवर्ण-मुद्रा और मोती निकले। पीछे से पता लगा कि अहमदाबाद के एक मारवाड़ी भक्त ने वह नारियल तुकाराम जी को गुप्त-दान करने के लिए भेजा था। ज्ञानेश्वर जी की ओर से आए ब्राह्मण के चले जाने पर आप ने ज्ञानेश्वर जी को संदेश भेजने के अर्थ से कुछ अभंग किए। ये अभंग बड़ी लीनता से भरे हुए हैं। एक अभंग में कहा है कि "महाराज, आप सब ज्ञानियों के राजा हो और इस लिए आप को ज्ञानराज कहते हैं। मुझ ऐसे नीच मनुष्य को यह बड़ापन काहे के लिए? पैर की जूती पैर में ही ठीक रहती है। ब्रह्मा आदि देव भी जहाँ आप की शरण आते हैं वहाँ दूसरे किस की आप के साथ

तुलना की जावे ? तुकाराम को तो आप की गहरी युक्तियाँ नहीं समझतीं और इसी लिए वह आप के पैरों पर अपना सिर झुकाता है ।"

कोडोपंत लोहोकरे नाम का एक पुनवाडी का ब्राह्मण कीर्तन करते समय तुकाराम जी के साथ मृदंग बजाया करता। एक बार कुछ धनी लोग काशी- यात्रा जाने की इच्छा से तुकाराम जी की आशीस लेने आए। उन लोगों को देख कोडोपंत के भी मन में काशी जाने की इच्छा हुई, पर द्रव्याभाव के कारण वे चुप हो रहे। तुकाराम जी ने उन की इच्छा पहिचान एक होन उठा कर उन्हें दिया और कहा कि "जिसे जाने की इच्छा है उस के लिए एक होन बहुत है। प्रतिदिन एक होन मिलना कठिन नहीं और एक होन से अधिक एक दिन में खर्च करने की भी आवश्यकता नहीं। रोज़ इस होन को भँजा कर खर्च करो पर कम से कम एक पैसा रोज़ बाक़ी रक्खो। दूसरे दिन तुम्हें फिर होन मिलता जावेगा।" कोडोपंत ने एक दिन परीक्षा ली। सब खर्च कर शेष पैसे सिरहाने रख सो गया। सुबह देखता है कि पैसे गायब और उन के स्थान में दूसरा होन तैयार। कोडोपंत को विश्वास हुआ और उन्हीं लोगों के साथ हो गया। तुकाराम जी ने कोडोपंत के साथ गंगा माई को विश्वनाथ को और विष्णुपद को एक-एक ऐसे तीन अभंग दिए। विश्वनाथ जी से आप की प्रार्थना थी कि "शंकरजी, आप तो हो विश्व के नाथ और मैं तो हूँ दीन अनाथ। मैं बौरा आप के पैर गिरता हूँ। आप जो कुछ कृपा करें वह थोड़ी ही मुझे बहुत है। आप के पास कुछ कमी नहीं और मेरे संतोष के लिये अधिक की आवश्यकता नहीं। महाराज, तुकाराम के लिये कुछ कभी प्रसाद भेजिये।" कोडोपंत की सब तीर्थयात्रा उसी होन पर निभ गई। प्रतिदिन उसे एक होन मिलता रहा। ब्राह्मण चार महीने काशी में रह कर लौटा। घर आने पर होन अपने पास ही रखने की इच्छा से तुकाराम जी से झूठ मूठ आ कर कहा कि होन खो गया। तुकाराम जी हँस कर चुप हो गए। घर जा कर कोडोपंत ने देखा तो होन सच-

सुच हो खो गया था। तुकाराम जी के पास दूसरे दिन आ कर अपना अपराध क़बूल किया और असत्य-भाषण के लिये क्षमा माँगी।

श्रीतुकाराम जी महाराज की आसाढ़ कार्तिक की पंढरपुर की वारी बराबर जारी थी। केवल एक कार्तिकी की एकादशी को आप बहुत बीमार होने के कारण न जा सके। जिस समय दूसरे वारकरी लोग पंढरी जाने के लिये निकले, तब आप ने कुछ अभंग लिख कर श्रीविठ्ठल की सेवा में भेजे। तुकाराम-सा प्रेमी भक्त, कार्तिक एकादशी का-सा पुण्यकारक आनंद-प्रसंग और केवल देह-दुःख के कारण पंढरी तक जाना असंभव! इस स्थिति में क्या आश्चर्य कि तुकाराम जी का जी तड़पता रहा और 'देह देहू में पर मन पंढरी में' यह स्थिति हुई। इस अवसर पर जो अभंग आप के मुँह से निकले, उन में तुकाराम जी का हृदय बिल्कुल निचोड़ा पाया जाता है। करुण-रस से वे अभंग भरे हुए हैं। पत्र का आरंभ इस प्रकार है। "हे संतो, मेरी ओर से श्रीविठ्ठल से विनती करो और पूछो कि मेरे किन अपराधों से मुझे इस बार श्रीविठ्ठल के चरण कमलों से दूर रहना पड़ा। अनेक प्रकार से मेरी करुण-कहानी पंढरीश को सुनाओ। तुकाराम को तो इस बार पंढरी और पुंडलीक के ईंट पर के श्रीविठ्ठल के चरण देखने की आशा नहीं है।" कुछ अभंगों के बाद आप कहते हैं, "हे नाथ, मेरे कौन से गुणदोष समझ कर आप ने ऐसी उदासीनता धारण की है? अन्यथा आप के यहाँ तो कोई अयोग्य बात होने की रीति नहीं है। अतएव इस का विचार मुझे ही करना चाहिए कि आप के प्रति मेरा भाव कैसा है। तुकाराम तो यही समझता है कि उसी के बुद्धि-दोष से आप ने उसे दूर किया है।" कुछ अभंगों के बाद आप ईश्वर पर नाराज़ हो कहते हैं, "अगर मन में इतना छोटा-पन है, तो हमें पैदा ही क्यों किया? हम दूसरे किस के पास मुँह फाड़ रोवें? अगर आप ही मुझ को छोड़ देंगे, तो दूसरा कौन इस बात की खबर लेगा कि मैं भूखा हूँ या नहीं? अब और किस की राह है,

किधर देखूँ, कौन मुझे गले लगावेगा? मेरे मन का दुःख कौन पहचानेगा और कौन इस संकट में से मुझे उबारेगा? हे पिता, क्या आप ऐसे तो न समझ बैठे कि तुकाराम अब अपना भार स्वयं उठा सकता है?" आगे।"महाराज, आज तो आप पूरे-पूरे लोभी बन गए हो। धन ही धन जोड़ने के पीछे पड़ा वह धन के लिये ही पागल बन जाता है। फिर उसे और कुछ नहीं दीखता। अपने बाल-बच्चे तक उसे प्यारे नहीं लगते। पैसे की तरफ़ देखते उसे सब बातें फ़ीकी मालूम देती हैं। तुकाराम समझता है कि आप को भी इसी तरह से लालच आ गई है।" इसी चिन्तावस्था में आप को गरुड़ जी के दर्शन हुए। गरुड़ जी बोले, "अगर आप चाहें तो आप को पीठ पर पंढरपुर ले चलूँ। देव आप को भूले नहीं हैं। पर इतने भक्तों को छोड़ वे कैसे आप के पास आ सकते हैं? अगर वे यहाँ चले आवें तो पंढरपुर कैसा रंग में भंग हो जावे?" तुकाराम जी समझ गए। आप के चित्त को शांति प्राप्त हुई कि श्रीविट्ठल मुझे भूले नहीं हैं। पर भगवान् के वाहन पर बैठ पंढरपुर जाना आप ने उचित न समझा। आप देहू ही रहे। संत लोग पंढरपुर से लौटते समय इस बार देहू आए और देहू में ही थोड़े समय के लिये पंढरपुर हो गया। तुकाराम जी के अभंग ख़ूब गाए गए।

तुकाराम जी के अभंगों की कीर्ति उन के जीवन-काल में ही ख़ूब फैल गई। इन के अभंग लोग लिख ले जाने लगे और गाने लगे। तुकाराम अपनी पहचान रखने के लिये अपने अभंगों के अंतिम चरण में 'तुका' पद रख देते थे। पर तुक से तुक मिला कर कवि बनने वाले बहुत से कवि तुका का नाम अपने ही बनाये हुये अभंगों में रख देते। फल यह होता कि इस बात को पहचानना बड़ा, कठिन हो जाता कि फ़लाँ अभंग तुकाराम का है या नहीं। ऐसे ही एक सालोमालो नामक कवि तुकाराम जी के ही समय में हो गये। वे ख़ुद अभंग रचते और लोग उन्हें याद करें, इस लिये उन के अंतिम चरणों

में 'तुका' की छाप लगा देते। तुकाराम जी के मत से अत्यंत विरुद्ध ऐसे कुछ अभंग भी सालोमालों बनाते और उन्हें तुकाराम जी के ही नाम से फैलाते। जब तुकाराम जी को उन के भक्तों ने यह बात कही कि सालोमालो ख़ुद अपने को हरिदास कहला कर आप के अभंगों का नाश कर रहा है, आप अभंग रूप में बोले "चावल गलगए या नहीं, यह देखने के लिये घोटना नहीं पड़ता। एक दाने से भात की परीक्षा होती है। हंस की चोंच दूध और पानी फ़ौरन दूर कर देती है। यदि किसी ने पहनने का अच्छा कपड़ा फाड़ उसे गुदड़ी बनाई तो बात किस की बिगड़ी? तुकाराम की समझ में तो दाने और फूस अलग करने में कुछ कष्ट नहीं।" पर भक्तों को यह बात ठीक न मालूम हुई। उन में से दो भक्तों ने तुकाराम जी के अभंग लिख लेने का निश्चय किया। सब अभंगों का लिखना अशक्य प्राय था। तुकाराम जी के अभंग सर्वदा रचे ही जाते थे। यह कहने के बजाय कि वे अभंग रचना करते थे यही कथन अधिक सत्य है कि अभंग-वाणी उन के मुख से निकलती थी। पर फिर भी तर्के गाँव के गंगा राम जी कहू-सकर ने और चाकण के संताजी तेली ने यथाशक्ति बहुत अभंग लिख डाले। ये दोनों तुकोबा के कीर्तन में उन का साथ करते थे और दोनों को तुकाराम जी की भाषा शैली से खासा परिचय था। इस कारण उन के प्रायः जितने अभंग इन्हें मिले, सब इन्हों ने लिख डाले।

देहू के पास ही चिंचवड़ नाम का एक गाँव है जहाँ पर श्रीगणेश जी का एक प्रसिद्ध मंदिर है। यहाँ भी देव उपनामक एक बड़े गणेश भक्त हो गए थे जिन के वंशज तुकाराम जी के समय वहाँ महंती करते थे। आप ने सुना कि तुकाराम जी नामदेव के अवतार समझे जाते हैं। यह बात प्रसिद्ध है कि श्रीविठ्ठल नामदेव जी के साथ भोजन करते खेलते और बोलते थे। तुकाराम जी की परीक्षा लेने के लिए एक बार देव जी ने उन्हें चिंचवड़ बुलाया। तुकाराम जी देव जी का हेतु मन में समझ गए। भोजन के समय तुकाराम जी ने देव जी से कहा "आप

के-से भक्तों के यहाँ आज श्रीविट्ठल भोजन करने के लिए आनेवाले हैं। एक पात्र उन के लिए और एक पात्र श्रीगणेश जी के किए परोसिए। मैं श्रीविट्ठल को बुला लाऊँगा और आप श्रीगणेश जी को बुलाइए। अपने मन की कु-बुद्धि पहचानी देख देव जी लज्जित हुए और बोले "तुकोबा, इतना महद्भाग्य हमारा कहाँ ? हम तो अभिमान के मारे मरे जाते हैं।" यह सुन कर तुकाराम जी ने श्रीविट्ठल की और गणेश जी की स्तुति की। "महाराज, आप की कृपा दृष्टि से तो वंध्या-गाएँ भी दूध देंगी। मैं ऐसी कठिन बात के लिए आप की विनय नहीं करता। मेरी तो केवल यही माँग है कि हमें अपने चरणों का दर्शन दीजिए। मेघ चातक के लिए बरसता है। राजहंस को आप मोती खिलाते हैं। तुकाराम की प्रार्थना मान्य करने में आपको इतना संकोच क्यों ?" कहा जाता है कि थोड़े समय में दोनों देवों के लिए परोसी हुई थालियों में से अन्न कम होने लगा। लोग समझ गए कि श्रीविट्ठल और श्रीगणेश भोजन कर रहे हैं। इस प्रकार के अनेक चमत्कार भक्तों के मुख के सुने जाते हैं। भक्तों की बातें भक्त ही जान सकते हैं। अतएव अधिक चमत्कारों के विषय में अधिक कुछ न लिखकर केवल तुकाराम जी के जीवन के अंतिम चमत्कार वर्णन कर जीवनी का पूर्वार्द्ध समाप्त करता हूँ।

तुकाराम जी की आत्म-विषयक भावना में बहुत ही धीरे-धीरे विश्वास उत्पन्न होता गया। अपनी जीवनी का वर्णन करते हुए उन्हों ने बड़ी लीनता से कहा कि 'सुनो भाई संतो, मैं तो सब से अधिक पतित हूँ। पर न मालूम आप इतना प्रेम मुझ पर क्यों करते हो। मेरा दिल तो मुझे इसी बात की गवाही देता है कि मैं अभी मुक्त नहीं हूं। व्यर्थ में एक पीछे दूसरा मुझे मानता जाता है। संसार में पीड़ा हुई, इस लिए घर छोड़ दिया, ढोरों को भगा दिया। जब कुछ पूरा न पड़ा, तब वैसा का वैसा ही रह गया। जो कुछ थोड़ा-बहुत धन था, वह पूर्णतया नष्ट हो गया। न कभी किसी ब्राह्मण को दिया न किसी याचक को इस प्रकार सहज

में ही भाग्यहीन हो जाने के कारण स्त्री, पुत्र, भाई इन का नाता टूट गया। लोगों को मुख दिखलाते न बना, अतएव कोनों में और जंगलों में रहने लगा और एकांत-वास का प्रेम इस तरह बढ़ गया। पेट-पूजने में बड़ा तंग हुआ। किसी को मेरी दया न आई। इस कारण यदि कोई अब मेरा सत्कार करता है, तो मैं बड़े चाव से उस के यहाँ जाता हूं। पुरखों ने कुछ श्रीविठ्ठल की सेवा की थी, जिसके पुण्य से मैं भी इसे पूजता हूं। इसी को यदि आप चाहो, तो भक्ति कह सकते हो।" कितनी नम्रता और स्पष्टता है! ये दोनों गुण वैसे के वैसे ही बने रहे। पर अंत में तुकाराम जी के मुख से ऐसे वाक्य निकलने लगे कि "कोई मेरी तलाश ही न करने पाए, इस लिए मैं ने आप के चरण गहे हैं। हे नारायण, अब तो ऐसा कीजिए कि मेरा दर्शन हो किसी को न हो। मेरा मन सब बातों से लौट अब जगह की जगह पर ही विलीन हो गया है। तुकाराम ख़ुद को भूल कर बोलना-चालना भूल गया है। अब तो वह पूरा गूंगा बन गया है।" या "अब तो मैं अपने मइहर जाऊँगा। इन संतों के हाथ मुझे संदेशा भी आ चुका। मेरी सुख-दुःख की बातें सुन अब तो मेरी मां के मन में करुणा की लाट आ गई। सब तैयारी कर अब तो वह मुझे एक दिन ज़रूर बुलाने भेजेगी। मेरा चित्त अब उसी मार्ग में लगा है। रोज़ मायके की राह देख रहा हूँ। तुकाराम के लिए तो अब स्वयं मा-बाप उसे लिवा जाने आवेंगे।"

इस प्रकार के विचारों की बाट होते-होते तुकारामजी के वय का इकतालीसवाँ साल पूरा हुआ और आप ने बयालीसवें साल में पदार्पण किया। इसी वर्ष की फागुन सुदी एकादशी के दिन महाराज ने नित्य नियमानुसार रात भर भजन-कीर्तन कर प्रातःकाल के समय अपनी स्त्री को बुला कर उसे ग्यारह अभंगों के द्वारा उपदेश किया। आप ने कहा—"सुनो जी, पांडुरंग हमारा चौधरी है। उसी ने हमें खेत जोतने के लिए दिया है। जिस में से फ़सल निकाल हम अपना पेट पालते हैं। उस की बाक़ी जो मुझे देनी है, वह माँग रहा है। आज तक उस

की सत्तर की बाक़ी में से मैं दस दे चुका हूँ। पर अब तो वह घर में आ कर खटिया पर बैठ ही गया है और एक-सा तकाज़ा लगा रहा है। अब तो घर, बाड़ी, बर्तन जो कुछ है, उसे दे कर उस की लगान पूरी करनी चाहिए। बतलाओ, अब क्या करना चाहिए। बिना बाक़ी दिए अब तो छुटकारा नहीं।" इस प्रकार आरंभ में रूपक की भाषा में उसे समझाना शुरू किया। पर जब यह देखा कि उस की समझ में नहीं आता तो आप ने अधिक स्पष्ट रूप में कहा कि "इस बात की चिंता न करो कि इन बच्चों का क्या होगा। उन का नसीब उन के साथ बँधा है। तुम अपनी फँसी हुई गर्दन छुड़वा लो और गर्भ-बास के दुःख से ख़ुद को बचाओ। अपने पास का माल देख कर चोर गला फाँसेंगे। इसी लिए मैं दूर भाग रहा हूँ। उन के मार की कल्पना ही से मेरा दिल काँप उठता है। अगर तुकाराम की ज़रूरत तुम्हें हो तो अपना मन ख़ूब बड़ा करो।" "अगर तुम मेरे साथ आओगी तो सुनो क्या-क्या सुख तुम हम दोनों को मिलेंगे। ऋषिदेव बड़ा उत्सव मनावेंगे। रत्नों से जड़े विमानों में हमें बिठलावेंगे, नामघोष के साथ गंधर्वों का गाना सुनावेंगे। बड़े-बड़े सिद्ध, साधु, महंत हमारा स्वागत करेंगे। वहाँ सुखों की सब इच्छाएं पूरी होंगी। चलो, जहाँ मेरे माता पिता हैं, वहाँ तक जावें और उन्हें मिल उन के चरणों पर पड़ें। तुकाराम के उस सुख का वर्णन कौन कर सकेगा, जब उस के माँ-बाप उस से मिलेंगे ?" तुकाराम जी ने तो उपदेश किया पर जिजाई के मन पर उस का कुछ भी असर न पड़ा। मानों अंधे को दर्पण दिखलाया या बहिरे को गाना सुनाया।

श्रीतुकाराम जी उन दिनों अपनी यह कल्पना बराबर कहते रहे। "मैंने अपनी मौत अपने आँखों से देखी", "अपना घड़ा अपने ही हाथों से फोड़ डाला", "अपने देहरूप पिंड से पिंडदान किया" इत्यादि विचार आपके मुख से निकलने लगे। अंत में चैत्रबदी द्वितीया के रोज़ प्रातःकाल आप ने जिजाई से कहला भेजा कि "मैं

वैकुंठ को जाता हूँ, अगर तुम को चलना हो तो चलना।" परंतु उस का जवाब आया कि "आप जाइए। मैं पाँच महीने के पेट से हूँ। घर में बच्चे छोटे-छोटे हैं, गाय, भैंस हैं, उन्हें कौन सम्हालेगा? मुझे आने की फ़ुरसत नहीं। आप आनंद से जाइएगा।" जवाब सुनकर तुकाराम जी मुसकराए और इसी प्रकार के अभंग मुख से कहते, हाथ में झाँझ, तंबूरी लेकर आप ने श्रीविट्ठल को नमस्कार किया और भजन करते-करते घर के बाहर निकले। लोगों को भी आश्चर्य हुआ। वारी को जाने का दिन नहीं, कीर्तन का मामूली समय नहीं और श्रीतुकाराम जी महाराज चले कहाँ? कहाँ जाते हैं? ऐसा यदि कोई तुकोबा से पूछता तो जवाब मिलता "हम वैकुंठ जाते हैं। अब न लौटेंगे।" भक्तों को आश्चर्य मालूम हुआ और बुरा भी लगा। खास-खास भक्त आप के साथ चलने लगे। उन सबों के साथ श्रीतुकाराम जी महाराज इंद्रायणी तीर पर आए और आप ने कीर्तन प्रारंभ किया। उस दिन कीर्तन के समय जो अभंग आप के मुख से निकले वे बड़े अजीब रस से भरे हुए हैं। अपने अभंगों में समय-समय पर तुकाराम जी भिन्न-भिन्न भूमिकाओं पर आप को समझते थे। कहीं विट्ठल को माता मानते, कहीं पिता, कहीं मित्र, कहीं साहूकार जिसके पास से तुकाराम जी ने कर्ज़ा लिया हो, तो कहीं कर्ज़दार जिसे आप ने पैसा दिया हो। आप श्रीविट्ठल से लड़ते, झगड़ते, प्रेम-कलह करते, भली-बुरी सुनाते, फिर क्षमा माँगते, पैरों पड़ते, रोते, अनेक प्रकार के खेल खेलते। पर इस आखिरी दिन का रंग कुछ और ही था। ये अभंग विराणी के कहलाते हैं। विराणी याने विहरिणी। इन अभंग में तुकाराम जी ने एक विहरिणी की अर्थात् स्वपति छोड़ अन्य पुरुष के साथ जिस पर कि उस का प्रेम हो, विहार करने वाली स्त्री की भूमिका ली है। संसार है पति और श्रीविट्ठल हैं प्रियकर पुरुष। इसी कल्पना पर ये अभंग रचे हुए हैं। उदाहरणार्थ "पहले पति द्वारा मेरे मनोरथ पूर्ण न हुए। अतएव मैं व्यभिचार करने लगी। मेरे पास

मेरा प्यारा रात-दिन चाहिए। एक पल भी बिना उस के मुझे अच्छा नहीं लगता। मैं तो अब अनंत से रत हो चुकी। तुकाराम के मत से तो दुनिया की बात क्या उस का नाम तक छोड़ देना चाहिए। अब तो मैं ने अपने सब संसार-पाश तोड़ डाले। अब तो सर्व-काल सब प्रकार के सुखों का ही उपभोग मुझे लेना है। इसी लिए तो पति को छोड़ा और इस पर-पुरुष के साथ रत हुई हूँ। तुकाराम कहते हैं कि अब तो ऐसी दवा की है कि जिस से न हमल रहे न कुछ फल-प्राप्ति हो।"

जब मनुष्य अपना देह भाव भूल जाता है और किसी कल्पना में तन मन से पड़ता है तो एक प्रकार की उन्मनावस्था उसे आ जाती है। लोगों को न पटेंगी—ऐसी बातें वह बोलता है। किसी के नज़र नहीं पड़ते—ऐसे दृश्य उसे दिखाई देते हैं। वह ऐसे शब्द सुनता है जिन्हें दूसरा कोई सुन नहीं सकता। तुकाराम को भी यही दशा हुई। आप के मुख से ऐसे शब्द निकलने लगे जिन में केवल आत्म-विश्वास भरा हुआ था। आप कहते थे कि "ब्रह्मज्ञानी, मुक्त, तीर्थ-यात्रा करने-वाले, स्वर्गवासी, तपोधन, यज्ञकर्ता, दाता इत्यादि सब लोगों के मुख से आज यही कहलाऊँगा कि 'धन्य हैं तुकाराम और धन्य हैं हम जिन्हों ने तुकाराम को देखा'।" आप की आँखों के सामने वैकुंठ, वहाँ निवास करने वाले श्री महाविष्णु, उन के पैर दाबनेवाली श्रीलक्ष्मी, गरुड़, सनकादिक संत दिखाई देने लगे। उन लोगों की 'चलिए, महाराज वैकुंठ चलिए, पधारिए' की पुकार आप को सुनाई देने लगी। आप ने सब भक्त लोगों से कहा "सब से हमारी बार-बार विनीति कहियो। हम वैकुंठ जाते हैं। हम पर कृपा-दृष्टि रखियो। अब बहुत देर हुई। श्रीपांडुरंग राह देखते खड़े हैं। बहुत देर हुई। वे हमें वैकुंठ बुला रहे हैं। अंतकाल के समय श्रीविट्ठल प्रसन्न हुए। तुकाराम सदेह वैकुंठ जाते हैं।" एकदम सब लोगों के देखते-देखते आकाश में तेज दिखाई देने लगा, फूलों की वर्षा होने लगी वाद्यों के आवाज़

तथा जय शब्द की ध्वनि सुनाई देने लगी, विमान गरुड़ की पीठ पर नजर आया, श्रीतुकाराम महाराज श्रीविठ्ठल के पास गए, महाविष्णु ने उन्हें गले लगाया और देखते-देखते तुकाराम जी का देह विष्णुस्वरूप हो गया। क्षण-भर में यह दृश्य अदृश्य हुआ। भक्त लोग नीचे ज़मीन पर देखने लगे तो श्रीतुकाराम महाराज का पता नहीं।

हो गया। सब खेल खतम हो गया। जिस सूत्रधार ने तुकारामजी को विशिष्ट वेश दिया, जिस ने उन के हाथों भले-बुरे अनेक काम करवाए, लोगों से आनंद की तालियाँ या निंदा की गालियाँ दिखवाईं उसी जगचालक, विश्वनाट्य-दर्शक सूत्रधार ने उन की भूमिका पर परदा डाल दिया। तुकाराम जी अदृश्य हो गए। तुकाराम जी का देह श्रीविट्ठल-स्वरूप हुआ परंतु उन के अभंग गीत आज तक महाराष्ट्र भाषा में गूँज रहे हैं और वह भाषा समझनेवाले लोगों के हृदयों को निनादित कर रहे हैं। केवल इतना ही नहीं, जितनी भाषाओं में आप के अभंगों का अनुवाद हो चुका है और होगा, उन सब भाषाओं के बोलनेवालों के या समझनेवालों के भी हृदय में हर्ष की हिलोरें इन अभंगों से पैदा हुई हैं और रहेंगी। तुकाराम की जीवनी समाप्त हो चुकी। अब उन की अभंग-वाणी बाक़ी है। उसी का विचार उत्तरार्ध में किया जावेगा।

———

अष्टम परिच्छेद : अभंगों का बहिरंग

तुकाराम तुक राम के दोनों सेतु अभंग।
उन का सेतु भंग गया इन का सेतु अभंग॥

श्रीतुकाराम जी की काव्य-वाणी पर विचार करने के पहले उस छंद पर विचार करना अयोग्य न होगा जिस में आप ने अपनी काव्य-रचना की है। इन की सब कविता प्रायः अभंग छंद में है। संस्कृत छंदःशास्त्र से इस अभंग की कल्पना नहीं ली गई है। उस शास्त्र में अक्षर-वृत्त लघु-गुरु के नियमों से और मात्रा-वृत्त मात्रा की संख्याओं से बँधे होते हैं। पर इस अभंग-वृत्त में लघु-गुरु का बंधन है न मात्रा-संख्या का। जब महाराष्ट्रीय संतों ने कविता रचना आरंभ किया संस्कृत पंडित उन की रचना में छंदोभंग, यतिभंग, मात्राभंग इत्यादि अनेक प्रकार के अभंग अर्थात् गलतियाँ निकालने लगे। पंडितों की इस जबरदस्ती से ज़ेर आ कर स्वाधीनवृत्ति महाराष्ट्र कविवीरों ने एक नए ही छंद का आविष्कार किया जिस के विषय में संस्कृत छंदःशास्त्री पंडितों के पास कोई नियम ही न था। इस नए छंद में किसी प्रकार के भंग का भय ही न था। कवि की आत्मा को जो शब्द सूझते थे उन्हें वह रखता चला जाता था। जान पड़ता है कि इसी से इस नए छंद को अभंग कहने लगे। जहाँ किसी प्रकार के भंग का डर नहीं वह अभंग। इसे पद्य कहने का कारण केवल यही है कि यह गद्य नहीं। यह गेय है अर्थात् इसे गा सकते हैं। अत एव केवल ताल के अनुसार ही इस की रचना होती है। अत्यंत प्राचीन संस्कृत वैदिक-मंत्रों के छंद में जैसे मुख्यतः केवल अक्षर-संख्या का बंधन है, वैसे ही इस अभंग-वृत्त में एक चौक अर्थात् चार चरणों के समूह के अक्षर संख्या से नियमित रहते हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं कि यह नियम भी सदा पाला ही जाता है। वैदिक ऋचाएं गाने के समय जैसे सामवेद में 'हौ,

हो' मिला कर ताल-मात्राएँ पूरी की जाती हैं वैसे ही अभंग गाते समय 'देवा' 'रामा' इत्यादि शब्द मिला कर ताल-पूर्ति की जाती है। ताल की सुविधा के अनुसार अक्षर संख्या में बढ़ जावें तो एक दूसरे में मिला कर संयुक्ताक्षर के-से भी पढ़े जा सकते हैं। अक्षर-संख्या के नियम की अपेक्षा भी इस रचना को काव्य या गेय कहने का एक और विशेष कारण है। वह है तुकबंदी। कहीं न कहीं इस रचना में तुक अवश्य रहता है। पर तुक मिलाने की रीति भी निराली ही है। कहीं-कहीं यह तुकबंदी दूसरे और चौथे चरण के अंत में होती है, तो कहीं पर दूसरे के और तीसरे के अंत में। कुछ अभंगों में पहले तीन चरणों में तुक रहता है, पर चौथा चरण बेतुका ही होता है। चार चरणों का एक चौक होता है। एक अभंग में प्रायः चार चौक रहते हैं। पर यह नियम नहीं है कि केवल चार ही चौक एक अभंग में हों। तीन से ले कर दो सौ चौक तक के अभंग विद्यमान हैं। दूसरा चौक ध्रुवपद कहलाता है अर्थात् हर एक चौक के बाद वह दुहराया जाता है। अभंग-छंद का सामान्य लक्षण यही है।

पर अभंग के सामान्य नाम से ज्ञात इस छंद के बहुत-से विशेष प्रकार हैं और प्रायः इन सब प्रकारों में श्रीतुकाराम महाराज की रचना है। उन सब प्रकारों के लक्षण, जिन में कि तुकाराम जी की रचना है, उदाहरणों-सहित नीचे दिए जाते हैं। हिंदी पाठकों के लिए मराठी अभंग के साथ उसी छंद में उस का अनुवाद भी दिया हुआ है।

(अ) इस प्रकार का चौक सब से छोटा रहता है। इस में पंद्रह अक्षर रहते हैं। पहले तीन चरण चार-चार अक्षर के और चौथा चरण केवल तीन ही अक्षरों का। दूसरे और तीसरे के अंत में तुक रहता है। उदाहरणार्थ—

(मराठी)

कोण येथें, रिता गेला। जो जो आला, या ठाया ॥
तांतडी ते, काय आतां। ज्याची चिंता, तयासी ॥

नांवा साठीं, नेघे भार। न लगे फ़ार, वित्पत्ती ॥
तुका ह्मणे, न लगे जावे। कोठें देवें सूचने ॥

(हिंदी)

कौन यहाँ, खाली गया। जो जो आया, ठौर पै ॥१॥
अब जल्दी, है काहे की। चिंता जाकी, ताही को ॥ध्रु०॥
नाम लेते, भार नहीं। लगती नहीं, पंडिती ॥२॥
तुका कहे, जाना नहीं। देव कहीं, ढूंढ़ने ॥३॥

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मराठी अभंग के अंतिम चौक में दूसरे चरण के पाँच अक्षर में 'न लगे' तीन अक्षर अभंग कहते समय 'नल्गे' से कहने पड़ते हैं।

(आ) पूर्वोक्त प्रकार में एक अक्षर अंतिम चरण में बढ़ाने से और तुकबंदी दूसरे और चौथे चरण के अंत में लाने से इस नए प्रकार का चौक बनता है। अर्थात् चौक में अक्षर १६ और दूसरे से चौथा चरण तुक में मिला हुआ। जिन प्रकार के अभंगों में तुकाराम जी की रचना बहुतायत से है, उन में से यह एक प्रकार है। यथा—

(मराठी)

होय होय वारकरी। पाहे पाहे रे. पंढरी ॥
काय करावीं साधनें। फळ अवघेंचि तेणें ॥
अभिमान नुरे। कोड अवघेंचि पुरे ॥
तुका. ह्मणे डोलां। विठो बैसला सांवला ॥

यहाँ पर तीसरे और चौथे चौक के पूर्वार्घ में आठ के बदले छः ही अक्षर हैं। अर्थात् कहते बार दोनों जगह 'देवा' या 'रामा' मिला कर कहना पड़ता है।

(हिंदी)

बनो बनो वारकरी। देखो देखो श्री पंढरी ॥ १ ॥
लाभ क्या है साधनो से। फल सारा है इसी से ॥ध्रु०॥
देह अभिमान जावे। मनोरथ पूरा होवे ॥ २ ॥
तुका कहे आँखों बैठा। विठू वहाँ से ना उठा ॥ ३ ॥

(इ) जिन अभंगों के चौक में अक्षरों की संख्या अठारह से ले कर बारह तक है, वे सब तुकाराम जी के अभंग हिंदी भाषा में रचे हुए हैं। इन्हें अभंग कहना कहाँ तक उचित है, एक विचार करने योग्य प्रश्न है। पर अभंगों के संग्रहों में सम्मिलित होने के कारण वे मराठी भाषा में अभंग ही कहलाते हैं। तुकाराम की तथा उस समय की महाराष्ट्रीय हिंदी के नमूने की दृष्टि से इन अभंगों का विशेष महत्व है। पहले प्रकार के पूर्वार्द्ध में तथा उत्तरार्द्ध में नौ-नौ अक्षर मिला कर अठारह अक्षर एक चौक के होते हैं। दोनों अर्द्धों के अंत में तुक रहता है। यथा—

दासों के पीछे दौरे राम । सोवे खड़े आप मुकाम ॥ १ ॥
प्रेम रसड़ी बाँधी गले । खैंच चले उधर चले ॥ध्रु०॥
अपने जनसुं भूल न देवे । कर धर आगे बाट बतावे ॥ २ ॥
तुका प्रभु दीनदयाला । वारि तुम्ह पे हुं गोपाला ॥ ३ ॥

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस की चाल हिंदी की 'भजो मना भजो रे राम। गंगा, तुलसी शालिग्राम' की चाल पर है। तीसरे चौक को 'अप्ने जन्सुं भूल न देवे। कर्धरागे बाट बतावें' कहना पड़ता है।

(ई) इस के बाद प्रत्येक चरण में पाँच, एवं प्रत्येक अर्द्ध में दस तथा चौक में बीस अक्षरों का छंद आता है। इस की भी रचना हिंदी भाषा में है। तुक दोनों अर्द्धों के अंत में रहता है। उदाहरणार्थ—

क्या गाऊँ कोई सुननेवाला।
देखूँ तो सब जग ही भूला ॥ १॥
खेलूं अपने रामहिं सात।
जैसी हो वैसी करिहौं मात ॥ध्रु० ॥
कहाँ से लाऊँ मधुरा बानी।
रीझे ऐसी लोक बिरानी ॥ २ ॥

गिरिधरलाल भाव का भुका।
राग कला ना जानत तुका॥ ३॥

भात का अर्थ है साथ, मात का भात, और विरानी शब्द मराठी विराणी अर्थात् विहरिणी, खिलानेवाली, मनमोहिनी के अर्थ में प्रयुक्त है। गिरिधरलाल को 'गिरिधर लाल' कहना सहज ही है।

(ड) श्रीतुकाराम महाराज ने हिंदी भाषा में जिस की रचना की, ऐसा तीसरा छंद वह है जिस के प्रति चौक में बाईस तथा प्रत्येक अर्ध में ग्यारह अक्षर हों। तुकबंदी पूर्वोक्त प्रकार की-सी प्रति अर्ध के अंत में है। जैसे—

मंत्र तंत्र नहिं मानत साखी।
प्रेम भाव नहिं अंतर राखी॥१॥
राम कहे ताके पद हूं लागूं।
देख कपट अभिमान दुर भागूं॥ध्रु०॥
अधिक याति कुलहीन न जानूं।
जानें नारायण सो प्रानी मानूं॥२॥
कहे तुका जीव तन डारूं डारी।
राम उपासिहुं हूं बलियारी॥३॥

हिंदी पाठकों से यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस छंद की कल्पना गुसाईं तुलसीदास जी के चौपाइयों से ली हुई जान पड़ती है। चौपाई की चाल पर ये अभंग भली-भाँति गाए जा सकते हैं। अक्षरों की खींचातानी आवश्यक स्थल पर पाठक स्वयं कर सकते हैं।

(ऊ) इसी ढंग का चौथा एक और प्रकार है। इस के प्रति पाद में छः अक्षर अतएव चौक में २४ चौबीस अक्षर होते हैं। तुकबंदी दूसरे और चौथे चरण के अंत में की जाती है। यथा—

क्या मेरे राम कवन सुख सारा।
कह कर दे पूछूं दास तुम्हारा॥१॥
तन जोवन की है कौन बराई।

व्याधि पीड़ादि ने सकलहि खाइ ॥ध्रु०॥
कीरत वधाऊं तो नाम न मेरा।
काहे को झूठा पछताऊं हूँ घेरा ॥२॥
कहे तुका नहिं समजत बात।
तुम्हारे शरन हे जोडत हात ॥३॥

कबीरदास जी के 'इस तन धन की कौन बड़ाई' की चाल पर ही यह अभंग कहा जाता है। अर्थात् यह कहने में हानि नहीं है कि कबीरदास जी के इसी पद के नमूने पर तुकारामजी की यह रचना है। यहाँ पर इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि तुकाराम जी की हिंदी-रचना में राम, कन्हैया, हरि इत्यादि शब्दों का प्रयोग ईश्वर के अर्थ में पाया जाता है, अल्ला का भी नाम मिलता है, पर श्रीविठ्ठल का नाम नहीं मिलता।

(ऋ) अब फिर मराठी रचना की ओर देखें। नामदेव जी ने जिस प्रकार के अभंग को विसोबा खेचर के पास सीखा, उस प्रकार से तुकाराम जी की भी बहुत रचना है। यह अभंग साढ़े तीन चरणों का कहलाता है। प्रत्येक चरण में छः अक्षर; ऐसे तीन चरण और चौथा चरण चार अक्षरों का। एवं कुल मिला कर बाईस अक्षरों का एक-एक चौक होता है! दूसरे और तीसरे चरण के अंत में तुक मिलाया जाता है। उदाहरणार्थ—

(मराठी)

माझे मज कळों, ये ती अवगुण।
काय करूं मन, अनावर ॥
आतां आड उभा, राहे नारायणा।
दयासिंधुपणा, साच करी ॥
वाचां वदे परी, करणें कठीण।
इंद्रियां आधीन, झालों देवा ॥
तुका ह्मणे तुझा, जैसा तैसा दास।
न धरीं उदास, माय बापा ॥

(हिंदी)

मेरे औगुनों को, और कौन जाने।
चित्त नहीं माने, क्या करूं मैं ॥ १ ॥
अब आड राखो, नारायण मोको।
कृपासिंधु नीको, नाम राखो ॥ ध्रु० ॥
जिह्वा बोल जाती, हाथों नहीं होता।
इंद्रियां ये गोता, दे जाती हैं ॥ २ ॥
तुका जैसा तैसा, दास है तुम्हारा।
क्यों उसे है डारा, दीनता में ॥ ३ ॥

(ऋ) इस प्रकार के एक चौक में अट्ठाईस अक्षर होते हैं। विषम अर्थात् पहले और तीसरे चरणों में आठ-आठ अक्षर और सम अर्थात् दूसरे और चौथे चरणों में छः-छः अक्षर होते हैं। दूसरे और चौथे चरण में तुक रहता है। यथा—

(मराठी)

याती हीन मती हीन, कर्म हीन माझं।
सर्व लज्जा सांडोनियां, शरण आलों तुज ॥
ये ई गा तूं माय बापा, पंढरीच्या राया।
तुज विण शीण वाटे, क्षीण झाली काया ॥
दीननाथ दीनबंधु, नाम तुज साजे।
पतितपावन ऐसी, ब्रीदावली गाजे ॥
विटेवरी नीट उभा, कटावरी कर।
तुका म्हणे हें चि आह्मां, ध्यान निरंतर ॥

(हिंदी)

जात हीन बुद्धि हीन, कर्म हीन मेरा।
सारी लाज छोड़ बना, हूँ मैं दास तेरा ॥ १ ॥
आओ मेरे माता-पिता, पंढरी के राया।

तेरे बिना थक गया, निर्बल हो काया ॥ ध्रु० ॥
दीननाथ दीनबंधु, तुझे सोहे नाम।
पतितों को उबारना, तेरा ही है काम ॥ २ ॥
भले खड़े ईंट पै हो, कटी राख हाथ।
तुका कहे यही ध्यान, रहे मेरे साथ ॥ ३ ॥

इसी छंद में तुकाराम जी की बहुत थोड़ी हिंदी रचना भी है। परंतु हिंदी में ध्रुवपद निराले चाल का है। जैसे—

तन भंजाय ते बुरा, जिकीर ते करे।
सीर काटे ऊर कुटे, ताहां सब डरे ॥ १ ॥
ताहां एक तुही रे, एक तुही रे। बाबा हम तुम नहीं ॥ध्रु०॥
दिल्दार देखो भुलो नहीं, क्या पछाने कोय।
सच्चा ना पकड सको, झूटा झूटे रोय ॥ २ ॥
किसे कहे मेरा कीन्हे, सात लिया भास।
नहीं मेल मिले जीवन, झूटा किया नास ॥ ३ ॥
सुनो भाई कैसा तोही, होय तैसा हो ही।
बांट खाना अल्ला कहना, एक बार तो ही ॥४॥
भला लिया भेख मुंढे, अपना नफा देख।
कहे तुका सोही सखा, हक अल्ला एक ॥५॥

उन दिनों एक तरह के मुसलमान फ़क़ीर महाराष्ट्र में घूमते थे। इन का सिर मुंडा रहने के कारण इन्हें मुंडे फ़क़ीर कहते थे। ये भीख माँगते वक्त बड़ी ज़िद करते थे। (मराठी में ज़िद को जिकीर कहते हैं)। अपना तन भंजाते अर्थात् शरीर पर घाव करते, सिर फोड़ते, छाती कूटते और इस प्रकार लोगों को डरा कर भीख माँगते। ऐसे लोगों को नज़र में रख कर, ऊपर की रचना की गई है।

(लृ) इस प्रकार के एक चौक में बत्तीस अक्षर रहते हैं। आठ-आठ अक्षरों का एक-एक चरण होता है और पहले तीनों चरणों के अंत में तुक मिला रहता है। जैसे—

(मराठी)

मन करा रे प्रसन्न। सर्वसिद्धी चें कारण।
मोक्ष अथवा बंधन। सुख समाधान इच्छा ते ॥
मनें प्रतिमा स्थापिली। मनें मना पूजा केली।
मनें इच्छा पुरविली। मन माउली सकलांची ॥
मन गुरु आणि शिष्य। करी आपुलेंच दास्य।
प्रसन्न आप आपणांस। गति अथवा अधोगति ॥
साधक वाचक पंडित। श्रोते वक्ते ऐका मात।
नाहीं नाहीं आन दैवत। तुका ह्मणे मना ऐसे ॥

तुकाराम से महाराष्ट्रीय संत कविता-नियमों के विषय में बड़े लापरवाह होते थे। ऊपर दिए अभंग में नियमों के अनुसार केवल चौथा चौक है। पहले तीनों चौक में चौथा चरण नौ नौ अक्षरों का है पर कहते समय नौ के आठ ही कहना पड़ता है।

(हिंदी)

मन राखो सुप्रसन्न। सिद्धियों का जो कारण।
चाहो मुक्ति या बंधन। सुसमाधान इसी से ॥ १ ॥
मन देव का निर्माता। फलफूल को चढ़ाता।
मन कामना पूर्ण कर्ता। मन ही माता सबों की ॥ध्रु०॥
मन गुरु मन चेला। सेवा कर्ता है वो भला।
ले जाता है वही चोला। सुगति या दुर्गति को ॥ २ ॥
सिद्ध साधक पंडित। श्रोता वक्ता सुनो बात।
अन्य नहीं है दैवत। तुका कहे मन का सा ॥ ३ ॥

इस प्रकार में केवल तुकबंदी बदल कर (आ) प्रकार के दो चौकों का एक चौक किया जाता है।

(ए) गोस्वामी तुलसीदास जी के तथा कबीरदास जी के दोहरे सुन-सुन तुकाराम जी ने भी कुछ थोड़े दोहरे बनाए हैं। हिंदी पाठकों से कहने की आवश्यकता नहीं कि दोहा मात्रा-वृत्त है। पर जहाँ अभंग

ऐसे सीधे-सादे वृत्त में भी खेंचातान करने की पद-पद पर आवश्यकता पड़ती है वहाँ बेचारे दोहे की कथा ही क्या ? दोहे की चाल पर कहने के लिये इन में जो कसरत जीभ को करनी पड़ती है उस की कल्पना कराने के लिए नीचे दिए दोहे काफ़ी हैं। इन दोनों में 'रे' शब्द की भरमार है।

राम राम कह रे मन, और सुं नहिं काज।
बहुत उतारे पार आये, राख तुका की लाज॥
तुकाराम बहुत मीठा रे, भर राखूं शरीर।
तन की करूं नाव रे, उतरूं पैल तीर॥
तुका प्रीत रामसूं, तैसी मीठी राख।
पतंग जाय दीप पर रे, करे तन की खाक॥

महाराष्ट्रीय संत कवि वृत्त-नियमों की ओर कभी ध्यान न देते थे। तुकाराम के ही समकालीन श्रीसमर्थ रामदास स्वामी की बात सुप्रसिद्ध है। आप ने 'मन के श्लोक' नामक मन को उपदेश करने वाले श्लोक 'भुजंगप्रयात' वृत्त में रचे। जब किसी पंडित ने इन श्लोकों में के नियम-भंग स्वामी जी को दिखलाए तब आप ने कहा कि "मैंने कहाँ इन वृत्त लक्षणों को सीखा है। न मैं इन लक्षणों को जानता हूँ, न मैं उस वृत्त में रचना करता हूँ। अगर ग्रंथोक्त नियम मेरे श्लोकों में न पाए जावें, तो मेरे श्लोकों के अलग नियम बनाओ। कविताओं पर से लक्षण बाँधे जाते हैं न कि लक्षण के अनुसार कविताएँ।" तुकाराम जी के विषय में भी यही कह सकते हैं। अभंग को तो किसी भंग का डर ही नहीं। दोहों में यदि दोहे का लक्षण न पाया जाय तो उसे अन्य नाम से कह सकते हैं। भवभूति के वचनानुसार "लौकिक कवियों के छंद लक्षणों के अनुसार होते हैं, पर श्रेष्ठ संतों की कविता अपने अनुसार नए लक्षण निर्माण करती है।"

जिन मराठी प्रकारों का ऊपर वर्णन किया जा चुका है, उन्हीं अभंग-प्रकारों में तुकाराम जी के प्रसिद्ध मराठी अभंग लिखे हुए हैं।

पर इन प्रकारों के अतिरिक्त भी इने-गिने कुछ अभंग, जिन में श्रीकृष्ण की पौराणिक लीलाओं का वर्णन है, भिन्न प्रकारों से लिखे हुए हैं। इन प्रकारों में नौ से ले कर सोलह अक्षरों तक का एक-एक चरण होता है। अर्थात् प्रति चौक में छत्तीस से चौंसठ तक अक्षर रहते हैं। कभी केवल पहले तीन चरणों में तुक मिला रहता है, तो कभी चारों चरणों में। इन सब प्रकारों के उदाहरण देने की कुछ आवश्यकता नहीं जान पड़ती। पिछले उदाहरणों से इन की कल्पना भली-भाँति की जा सकती है। आप के रचे हुए सब से बड़े अभंग में अट्ठासी अक्षरों का एक चौक पाया जाता है। कभी-कभी ध्रुवपद आधे चौक का अर्थात् दो ही चरणों का होता है। पर इन सब प्रकारों में पूर्वोक्त प्रकारों का ही संयोग पाया जाता है। ये छंद गाने में भी इतने कर्ण-मधुर नहीं हैं। इन सारे अभंगों की रचना तुकाराम जी ने प्रारंभ में ही की है। इसी समय रामदास स्वामी जी के 'मन के श्लोक' ऐसे कुछ भुजंगप्रयात श्लोक भी तुकाराम जी ने रचे। पर इन में भी खींचातानी का वही हाल है। जैसे-जैसे तुकाराम जी की कविता-शक्ति या कविता-भक्ति बढ़ती गई, वैसे-वैसे ये सब ढंग छूट गए और केवल पूर्वोक्त पाँच-चार प्रकारों में ही आप ने अपनी अभंग-रचना की।

आरंभकाल में भाषाभेद या छंदभेद के अतिरिक्त और भी कुछ विशेष भेद तुकाराम जी के अभंगों में पाए जाते हैं। इन बातों का वर्णन कर यह बहिरंग-परीक्षा समाप्त करेंगे। हर एक कवि तुकबंदी के तथा अक्षरबंदी के कुछ खेल अवश्य ही खेलता है। संस्कृत महाकाव्य लिखनेवाले कवियों में तो यह शौक पाया ही जाता है, पर तुकाराम रामदास ऐसे संतकवि भी इस खेल के मोह से सर्वथा अलिप्त न रहने पाए। तुकबंदी के विषय में तुकाराम जी का एक ढंग वह जिसे संस्कृत परिभाषा के अनुसार 'दामयमक' कह सकते हैं। इस प्रकार में एक चौक के अंत में जो अक्षर होते हैं, उन्हीं अक्षरों से दूसरे चौक का आरंभ किया जाता है। यथा—

(मराठी)

चित्त ज्याचें पुत्र, पत्नी बंधू वरी।
सुटेल हा परी, कैसा जाण॥
जाणते नेणते, करा हरिकथा।
तराल सर्वथा, भाक माझी॥
माझी मज असे, घडली प्रचीत।
नसेल पतित, ऐसा कोणी॥

(हिंदी)

चित्त यदि जड़ा, पुत्रादिकों पर।
छूटे तो संसार, कैसा जानो॥१॥
जानो या न जानो, करो हरि कथा।
तरोगे सर्वथा, वाक्य मेरा॥२॥
मेरा मुझे हुआ, पूरा है विश्वास।
पापी ऐसा दास, न था कोई॥३॥

इस दामयमक में शब्द का शब्द दुहराया जाता है। पर तुकाराम जी कभी-कभी शब्द के बजाय केवल एक अक्षर ही दुहराते हैं। जैसे कि नीचे दिए उदाहरण में—

(मराठी)

पांडुरंगा करूं प्रथम नमना।
दूसरें चरणा संतांचिया॥
यांच्या कृपादानें कथेचा विस्तारू।
बाबाजी सद्‌गुरू दास तुका॥
काय माझी वाणी मानेल संतांसी।
रंजवूं चित्तासी आपुलिया॥

(हिंदी)

पांडुरंग वंदौं, पहले सबों के।
चरण संतों के, नमौं बाद॥१॥

दया से उन्हीं के, कथा गाऊंगा।
बाबा जी गुरू का, तुका चेला ॥२॥
लाभ होगा कैसा, संतों को इस से।
निज के मन से, गाऊंगा मैं ॥३॥

यहाँ पर पूरा का पूरा शब्द दुहराने के बजाय केवल अंतिम अक्षर ही दूसरे चौक के आरंभ में दुहराया है। आरंभ-आरंभ के कई अभंग तुकाराम जी ने इसी प्रकार से रचे हैं। कहीं शब्द, या कहीं अक्षर, पर द्विरुक्ति अवश्य की है। इस का एक कारण यह जान पड़ता है कि इस द्विरुक्ति के कारण एक के बाद दूसरा चौक कंठस्थ करने में सुभीता होता है।

इस खेल के अतिरिक्त और भी एक खेल तुकाराम जी के एक अभंग में पाया जाता है इस का नाम है 'एकाखड़ी'। यह शब्द 'एकाक्षरी' का अपभ्रष्ट रूप है, जैसा कि द्वादशाक्षरी' का 'बाराखड़ी'। इस अभंग के प्रत्येक चौक का आरंभ वर्णमाला के ककार से ले कर हकार तक के अक्षरों से है'जैसे नीचे के पाँच चौक पवर्गाक्षरों से आरब्ध हैं—

(मराठी)

पर उपकारा । वेंचा शक्ति निंदा-वारा ॥
फल भोग इच्छा । देव आहे जैसा तैसा ॥
बरवा ऐसा छंद । वाचे गोविंद गोविंद ॥
भविष्याचे माथां । भजन न घावें सर्वथा ॥
माग लागला न खंडो । आळसें माती घाली तोंडीं ॥

(हिंदी)

पर उपकार करो । निज शक्ति निंदा टारो ॥
फल भोगों की कामना । देव देता जैसे बना ॥
बहु अच्छा यही छंद । कहो गोविंद गोविंद ॥
'भविष्य काल में करो । भजन' ऐसा ना उचारो ॥
मार्ग पाया जो न छोड़ो। आलस्य को पार तोड़ो ॥

ये सब बातें आरंभ ही में मिलती हैं। अभ्यास, ईश्वरभक्ति, उदासीनता' ऋषियों के वचनों के पाठ, एकाग्रता, ऐकात्म्य, इत्यादि बातों के कारण जैसे-जैसे आप का अधिकार बढ़ता गया, वैसे वैसे ये सब खेल छूटते गए और आप का लक्ष्य बहिरंग की अपेक्षा अंतरंग की ओर अधिक आकृष्ट हुआ। प्यारे पाठकों, आइए, हम भी अब इस नीरस बहिरंग परीक्षा को छोड़ श्रीतुकाराम जी के अभंगों का अंतरंग देखें।

नवम परिच्छेद:देव–भक्त संवाद

गत परिच्छेद में श्री तुकाराम जी महाराज के अभंगों का जो बाह्य स्वरूप दिखाया गया है उस से पाठकों के मन पर विशेष अनुकूल परिणाम न हुआ होगा। इस का कारण स्पष्ट है। तुकाराम जी की कविता कन्यका रूप से मोहक नहीं। जैसा तुकाराम जी का बाह्य स्वरूप था वैसा ही उन की कन्यका का है। स्वयं अपने रूप के विषय में महाराज ने श्रीशिवाजी को उत्तर लिखते समय कहा है कि "वस्त्रों बिना शरीर मलिन है। पेट भर अन्न खाने को न मिलने और जो कुछ फल-मूल मिलें उन्हीं पर निर्वाह करने के कारण हाथ-पैर पतले और सूखे हो गए हैं। ऐसी स्थिति में मेरे दर्शन से आप को क्या आनद मिलेगा ?" तुकाराम जी के एक शिष्य कचेश्वर भट ब्रह्मे नाम के थे। आप ने तुकाराम जी के स्वरूप का वर्णन किया है, जिस में आप कहते हैं कि "श्रीतुकाराम जी वर्ण से साँवले थे। क़द में न बहुत ऊँचे न बहुत छोटे। पेट ज़रा बड़ा और गोल, आँखें तेजीली, नाक सीधी, दाँत छोटे-छोटे और ओंठ लाल थे। कीर्तन के समय आप ऐसे नाचते और हिलते, मानों हवा को ज़ोर से केले का पेड़ हिल रहा हो।" तुकाराम जी की कविता ठीक इसी प्रकार की है। किसी एक विषय पर सुसंबद्ध न होने के कारण यह कविता फुटकर टुकड़ों-टुकड़ों में बँटी जान पड़ती है। छंद में भी यह मोहक नहीं। जिस में नियमों का बंधन नहीं ऐसे अभंग छंद में यह रचना है। पिता जी के पास अलंकारों का अभाव होने के कारण यह बिल्कुल निरलंकार है। अगर इस के बचपन में इस पर एकाध शब्दालंकार चढ़ाया भी गया तो वह इतना सादा कि उस से सौंदर्य बढ़ने की अपेक्षा कम होने की ही अधिक संभावना रही। फिर अगर उस का रूप मनमोहक न हो तो अचरज ही क्या ? लीचियों का स्वरूप भी बाहर से सुंदर नहीं होता।

पर केवल इसी लिए उन्हें रसिक लोग फेंक देते हैं ? तुकाराम जी की कविता को लीचियों की ही उपमा देना अधिक अन्वर्थक है। यद्यपि इन का रूप मोहक नहीं, तथापि न नारियल की तरह इन्हें फोड़ने में कष्ट होता है, न कटहल का-सा इन का छिलका मोटा होता है। जो चाहा तब एक फल उठाया और मज़े से चखने लगे। ठीक यही हाल तुकाराम जी की कविता का है। जब चाहो तब एक अभंग उठा लो। शब्दों का अर्थ पढ़ते ही ध्यान में आता है और रस-भरा मधुर अर्थ समझकर जीव संतुष्ट होता है।

श्रीतुकाराम जी महाराज के अभंगों की विशिष्टताओं में से एक यह है कि इन अभंगों को पढ़ते ही आप की मूर्ति आँखों के सामने नज़र पड़ने लगती है। हर एक अभंग में ही नहीं, हर एक शब्द में तुकाराम जी की भक्ति पाठकों को दीखती है। ऐसा जान पड़ता है कि महाराज पाठकों से स्वयं बोल रहे हैं। कवि प्रायः अपने पात्रों द्वारा या अपनी कविता के प्रतिपाद्य सिद्धांतों द्वारा पाठकों के मन से मिल जाते हैं। पर तुकाराम जी का निराला ही ढंग है। यह भक्तराज पाठकों से स्वयं ही बोलते हैं और आप को जो कुछ कहना होता है, साफ़-साफ़ कोई परदा आाड़ न रख कर कहते हैं। संस्कृत काव्य-शास्त्र के अनुसार व्यंग्यार्थ को प्राधान्य है। कविता-सुंदरी के विषय में यह ठीक भी है। तरुणी स्त्री को अपने अवयवों को ढाँकना पड़ता ही है, प्रत्युत उसे अपने भाव भी छिपाने पड़ते हैं। अपने मन के भाव उसे स्पष्ट रूप से शब्दों में व्यक्त करना उचित भी नहीं। उस के लिये तो यही ठीक है कि वह अपने मन के भाव इंगित द्वारा प्रकट कर दर्शकों के चित्त को आकर्षित कर ले। पर छोटे बच्चे के विषय में यह बात अयुक्त है। उन्हें न अपने अंगों को ढाँकना चाहिए, न अपने भावों को। बच्चे की मोहकता उसके खुले अंगों में ही अधिक है। ऐसे ही उस के मन की निर्मलता अपने भाव को शब्दों में कह देने में ही है। उस ने इन बातों से विचार करने की कुछ आवश्यकता नहीं कि उस के वाक्य

ठीक शब्दों में रचे गए हैं या नहीं। भले-बुरे, शुद्ध-अशुद्ध, स्पष्ट-अस्पष्ट, यहाँ तक कि तोतले शब्दों में भी उस की बातें बड़ी रोचक लगती हैं, सुनने वाले के हृदय को संतोष देते हैं और बिना विलंब किए बालक की इच्छा पूरी करने में लोगों को प्रवृत्त करते हैं। उपनिषत्कार ने इसी लिए कहा है कि 'पंडिताई से खिन्न हो, बच्चे के भाव से ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिए।' तुकाराम जी की कविता ठीक इसी प्रकार की है और इसी कारण उस का प्रभाव पाठकों पर अधिक पड़ता है।

तुकाराम जी की कविता का दूसरा विशेष गुण है आप की प्रासादिक सादी मनोहारिणी वाणी। ऐसे सुलभ और सादे शब्दों में परिणामकारक उपदेश करना, प्रसंगवश पाठकों के मन में भिन्न-भिन्न विकारों का तूफ़ान उठाना तथा निंद्य बातों की अवहेलना और निंदा कर के उन बातों के विषय में पाठकों के हृदय में घृणा उत्पन्न करना तुकाराम जी के हाथ का खेल था। आप के दृष्टांत या उदाहरण बड़े हृदयस्पर्शी होते हैं। बहुत लेखकों के प्रचंड शब्दसमूह में ज़रा-सा अर्थ भरा रहता है; मानों टोकरी भर भूसे में एक अनाज का दाना। पर तुकाराम जी की लेखन शैली इस के बिल्कुल उलटी है। तुकाराम-जी की वाणी की श्रेष्ठता इसी में है कि बहुत इतने थोड़े शब्दों में आप बड़े-बड़े गहन सत्य गढ़ते हैं। साथ ही आप अपनी कल्पनाओं को मोहक स्वरूप देते हैं। इन्हीं कारणों से आप की कविता-वाणी छोटों से ले कर बड़ों तक और श्रेष्ठों से ले कर कनिष्ठों तक सब प्रकार के लोगों के मुख में निवास करती है। आप की रचना किसी एक विषय पर निबद्ध नहीं है पर भामह के कथनानुसार 'अनिबद्ध' है। मन में जिस समय जो लहर उठी उसी के अनुसार मुख से शब्द निकले। यह कविता हृदय से निकलती है और हृदय से ही जा मिलती है। इस के शब्द और अर्थ सोना और रत्न के-से हैं। सोने में जड़े जाने के कारण रत्न अधिक सुहावना मालूम होता है। साथ ही सोने की शोभा

बढ़ती है। इसी प्रकार ये शब्द और अर्थ अन्योन्य को शोभा देते हैं। जैसे चमकीले अर्थ हैं, वैसे ही सुहावने शब्द। वृत्ति के बाहर निकलने के कारण इन में कृत्रिमता का लेश भी नहीं है। तुकाराम जी की कविता के विषय में इतना सामान्य विवरण पर्याप्त है। अब विशेष रूप से इस का विचार करना चाहिए।

श्रीतुकाराम जी की साधना का विचार प्रथम ही हो चुका है। जब आप ने संसार छोड़ दिया या यों कहें कि संसार ने आप को छोड़ दिया, तब से आप बराबर श्रीविट्ठल की भक्ति करते रहे। जब आप को कविता रचने के विषय में आदेश हुआ, तब सब से पहले आप ने श्रीकृष्ण-लीला की कविताएँ लिखीं। पर जब से आप को ईश्वर-स्वरूप का साक्षात्कार हो कर आप के अभंग इंद्रायणी नदी में से सूखे निकले, तब से आप का चित्त परमेश्वर से मिल गया। आप को सदैव ईश्वर पास ही दीखते थे, अतएव आप प्रार्थना ऐसी करते मानों आप किसी से बोल ही रहे हैं। स्तुति करते समय आप के मन में प्रमुखतया यह बात रहती है कि यह काम अशक्य है, असंभाव्य है। इस के मुख्यतया दो कारण हैं। एक अशक्ति और दूसरा अज्ञान। जहाँ पर वेद भी कुछ वर्णन न कर सके और अंत में 'नेति-नेति' कहते रह गए; ऋषि, मुनि, सिद्ध इत्यादि वर्णन करते-करते थक गए, हज़ारों मुख से बखानते बखानते शेष की जिह्वाएँ फट गईं, वहाँ तुकाराम की कथा ही क्या ? अगर सारी पृथ्वी का काग़ज़, सागर की स्याही, मेरु की लेखनी बनाई जाय तो भी यह सामान अनंत-गुण भगवान् की स्तुति लिखने में पर्याप्त न होगा। अज्ञान के विषय में भी यही बात। ध्यान कैसा करना चाहिए, कैसी भक्ति करनी चाहिए और कैसी सेवा, तथा कीर्ति कैसे बखानूँ, रूप कैसे पहचानूँ, गीत मैं कैसा गाऊँ, हृदय में कैसे लाऊँ इत्यादि किसी भी बात में ज्ञान नहीं, अगर ईश्वर ही कुछ बुद्धि दे तो कुछ हो। अन्यथा विचार करते-करते तो उस की माया ही नहीं समझ में आती। कौन पैदा हुआ या किस ने पैदा किया, दाता कौन और याचक कौन,

कौन उपभोग लेता है और कौन लिवाता है, किसे रूप कहते हैं और किसे अरूप, कुछ भी ध्यान में नहीं आता। यहाँ तक कि स्तुति करने जाता हूँ तो जान पड़ता है कि निंदा ही कर बैठा। सचमुच यह निंदा है या स्तुति, एक गोविंद ही जानता है। वही लाड़ से बोले हुए बोलों को चाहता है। भक्त तो केवल तोतली बातों से उस का मनोरंजन करते हैं। इस प्रकार की हुई बच्चों की बातों में आवे भी क्या? फिर-फिर से वही बात। बोला हुआ ही फिर-फिर से मैं बोलता हूँ। पर मन में संदेह नहीं होता। ईश्वर तो अनेकों की माता है। वह दयामय है। बच्चे कितना भी कोलाहल करें, वह खीझती नहीं, उलटा उन्हें समझाती ही है। अपने पास जो कुछ रहता है, उसे सबों को बाँटती है, बड़े प्रेम से खिलाती है। इसी लिए मैं समझता हूँ कि मेरा श्रम भी व्यर्थ न होगा। पर नहीं। माता की उपमा भी उचित नहीं। माता केवल इसी संसार में लड़के को खिलाती-पिलाती है पर जब बेचारा मर जाता है, तो खाली रोती बैठती है। परलोक में वह उस के लिए कुछ नहीं कर सकती, पर ईश्वर तो ऐसे नहीं हैं, उन का तो काल पर भी अधिकार चलता है। फिर उस की माता से तुलना कैसे की जाय? अतएव इस ईश्वर के लिए क्या कहा जाय, बड़ी भारी समस्या है।

'श्रीतुकाराम जी महाराज' ने इस समस्या को बड़ी सुगमता से हल किया है। आप का कथन है कि परमेश्वर से भक्तों को काम ही क्या? उन्हें तो केवल उस का अमृत भरा नाम लेना चाहिए। जब तक यह कामधेनु उन के पास है तब तक उन्हें कमी किस बात की है? ऐसी माता कहाँ मिलेगी, जो अपना ही बच्चा न पहचाने। उसे देख कर तो उस का दूध थन फोड़ कर बाहर निकल आवेगा। जिसे आज तक किसी ने याचक के रूप में देखा न हो उसी से दान माँगने में लाज आवे! हमें क्या? बड़े-बड़े बहादुर आदमी भी केवल अपने नाम के लिए जान तक दे देते हैं, पर अपनी बाज़ी नहीं छोड़ते। अगर ऐसा है तो विट्ठल से करना ही क्या है? उस का नाम गावें तो सब कुछ हो

जाय। उसी ने यह सृष्टि बना कर नाम और रूप धारण किया है। उस का नाम लेते एक पल भी न गंवाना चाहिए। जब जड़ पास है तो सब पेड़ पास ही है। भिन्न विचारों से भिन्न-भिन्न भाव पैदा होते हैं। अत एव मुख से नाम लेते विचारों के पेट में उसी परमात्मा की छोटी-सी मूर्ति पकड़ कर रखनी चाहिए। पर इसके लिए भी पात्रता की आवश्यकता तो अवश्य ही है। अच्छे से अच्छा गहना भी किसी कुरूप ग़रीब के पास जाय तो उस गहने को भी रोना ही पड़ेगा। उत्तम और अधम की संगति कैसे जम सकती है? जो रसोई पकाना नहीं जानता उस के लिए आगे रक्खा हुआ सब सीधा भी किस काम का? एकाध रत्न अगर बकरी के गले में बाँधा जाय तो उस रत्न बेचारे की दुर्दशा ही है। एक के सिवा दूसरे को शोभा नहीं। इस लिए अमृत भरा नाम भी लें तो योग्यता तो होनी चाहिए। पर अगर हम में योग्यता नहीं है तो दोष किस का है? किसी समर्थ पुरुष का पुत्र अगर दीन-सा नज़र आवे तो लोग हँसेंगे किसे? पुत्र को या पिता को? वह कुरूप हो, अवगुनों से भरा हो--जैसा हो वैसा उसे संभालना तो पड़ेगा ही। इसी प्रकार तुकाराम पतित होगा, पर तुम्हारी नाम-मुद्रा धारण किया हुआ तुम्हारा ही बच्चा है।

नम्रता-पूर्वक शरण जा कर परमेश्वर पर ही अपना सब भार डालने पर श्रीतुकाराम जी महाराज का दृढ़ विश्वास था। आप के अभंगों में यह कल्पना अनेक बार बड़े अच्छे-अच्छे शब्दों में प्रकट हुई है। आप कहते हैं "नम्रता बड़ी अच्छी है। इस के सामने किसी का ज़ोर नहीं चलता। नदी की बाढ़ में बड़े-बड़े पेड़ बह जाते हैं, पर छोटे-छोटे पौंधे वैसे ही रह जाते हैं। समुद्र की बड़ी लहरें भी आवें तो वे ज्यों के त्यों रहते हैं। किसी के पाँव पकड़ लेने पर उस का क्या बल चल सकता है?" इस लिए उसी की शरण जाना चाहिए और अपना सब भार अनन्य भाव से उसी पर डालना चाहिए। तुकाराम के विषय में यद्यपि ईश्वर को विस्मरण पड़े, तथापि तुकाराम को वह दूर नहीं

कर सकता। क्योंकि वह उसी का कहलाता है और इसी लिए ईश्वर उसे भूल भी जाय तो बहुत देर नहीं भूल सकता। दोनों को कोई दूर नहीं कर सकता। तुकाराम के सिर पर ईश्वर का हाथ है और ईश्वर के पैरों पर उस का सिर है। इस प्रकार दोनों का संबंध दृढ़ जम गया है। अब तो एक ही बात बाक़ी है। सेवा करना तुकाराम का काम और कृपा करना परमेश्वर का काम है। तुकाराम बड़े प्रेम से कहते हैं, "अब तो गोद में बैठ गया। अब दूर हूँगा ही नहीं। बहुत दिनों के बाद आज यह अवसर मिला है। अब तो मनमानी कर ही लूँगा। बहुत दिन तक मैं ने कष्ट सहन किए, पल भर भी विश्रांति नहीं मिली। मैं और तू के द्वैतभाव से पास की वस्तु भी नज़र न आई। अब तो जिस की राह देख रहा था, मिल ही गया। विठोबा, अब क्रोध करने से क्या लाभ!" "अगर माँ ही गला काटे तो बच्चे को कौन बचावेगा! अगर कुमक ही लूटने लगे तो मदद कौन करे! राजा ही सब छीने तो उसे कौन रोके! अगर तुम ही न करो तो मन स्थिर कैसे हो! तुकाराम का तो सूत्र हरी के ही हाथ है। अर्थात् वह बचावे तो ही तुकाराम बचेगा" "प्रेम का अधिकार बहुत बड़ा है। यहाँ तक कि माँ बाप भी बच्चे से डरते हैं। वह अगर हठ कर रोने लगे तो उस के सामने उन का क्या वश चल सकता है! वह तो दामन पकड़ ऐसा लिपट जाता है कि उसी के साथ उन्हें आगे पीछे होना ही पड़ता है। वह जो चाहे सो बकता है पर उन्हें सुनना ही पड़ता है।" इस प्रकार प्रार्थना करते-करते आप जब थक जाते तो कहते "बस, अब इस के बाद कुछ विनय करना बाक़ी ही न रहा। अब तो, हे पंढरीनाथ, पैरों पर सिर डाल पड़ा हूँ। जितनी युक्तियाँ पास थीं, सब कर चुका। अब फिर निराशा की आशा क्यों करूँ?"

नम्रता के साथ ही साथ यह भी ख़ूब जानते थे कि सीधी उँगलियों से घी नहीं निकलता। ईश्वर के साथ भक्त की दृष्टि से आप नम्र थे तो आश्चर्य ही क्या! पर जब कभी आप उस पर नाराज़ होते तो ऐसा

लड़ते कि उस का भी कुछ ठिकाना नहीं। अपने प्रारब्ध को, अपने पापों को; अपने दोषों को ईश्वर से भी प्रबल मान आप कई बार लड़-बैठते। यदि यह परमेश्वर इन दोषादिकों को दूर न करे और भक्तों को न बचावे तो सिवाय पूजने के दूसरा उपयोग ही क्या ? जब आप बहुत चिढ़ते तो कहते कि अब मुरव्वत कहाँ तक रक्खूँ ? अब तो निः-शंक हो कर बोल ही डालूँ। इस दुनिया में गूंगे की तरफ़ कोई ध्यान नहीं देता। जो शरमावे सो गँवावे। अब तो मालिक के साथ बड़ी धीरता और धृष्टता से बोलना ही चाहिए। चलो, अब डंड-फटकार समर्थ के साथ दो-दो हाथ हो ही जाएँ। देखिए आप ईश्वर के साथ कैसा भिड़ते ! आप कहते "महाराज महद्भाग्य की बात है कि हम ऐसे पतितों की बदौलत ही आप को नाम और रूप मिला है। अन्यथा निराकार और निर्गुण ऐसे आप को पूछता ही कौन था ? क्या आप जानते नहीं कि अँधेरे से ही दीप की शोभा है, लाख से ही रत्न जड़ा जाता है; रोगी की ही बदौलत धन्वंतरी प्रकाश में आता है, विष ही के कारण अमृत की महत्ता है, पीतल के कारण ही सोने की क़ीमत है और नीचे से ही ऊँचे का मान है। हम लोग हैं, इसी लिए तो आप को देवत्व है।" फिर आप पूछते "क्या आप मेरा एक दुख दूर करने में इतने दुर्बल हो गए ? पारस लोहे का सोना करता है। कल्पवृक्ष पेड़ हो कर और चिंतामणि पत्थर हो कर भी इच्छित पदार्थ देते हैं। चंदन के सुवास से दूसरे पेड़ सुवासित हो जाते हैं। इन सबों का क्या इन कामों से कुछ घट जाता है। तो आप का ही हमारी इच्छा पूरी करने में कुछ घट जावेगा !" "आप अगर मेरे गुण-दोष का ही विचार करते हों तो मैं आप-से साफ़-साफ़ पहले ही कह डालता हूँ कि यहाँ तो पापों का ढेर है। पर आप तो पतितपावन कहलाते हो या नहीं ? अपना-अपना धर्म हर एक को करना चाहिए। लोहा घन बन कर भी पारस को मारे तो क्या वह बिना सोना बने रह जावेगा ? यह सच है कि खाली मिट्टी की कुछ क़ीमत नहीं, पर कस्तूरी के साथ रह कर भी उस की क़ीमत

न बढ़ेगी ?" निंदा करते समय आप पूछते कि "यह तो कहिए कि आज तक आप ने उद्धार ही किस का किया ? खाली बिरुदावली बना रक्खी है। हाथ के कंकन को दर्पन का क्या काम ? देखिए न, मैं तो जैसा का तैसा ही हूँ। रोगी जैसा का तैसा ही बना रहे तो धन्वंतरी ने किया ही क्या ? निरी बातें कौन माने जब तक प्रत्यक्ष अनुभव न हो।" "आप ने आज तक भला ही किस का किया ? आप तो पूरे निर्गुण और निष्ठुर हैं। माया तो आप को छू भी नहीं गई। आप ऐसा करते हैं जो आज तक किसी ने न किया हो। हरिश्चंद्र का उदाहरण लीजिए। बेचारे का सारा राज्य हरण किया, स्त्री से वियोग करा कर पुत्र को मरवाया और डोम के घर उस से काम करवाया। नल-दमयंती का जोड़ा कैसा था ? पर आप ही ने उसे बिछुड़ाया। झूठ हो तो पुराणों से पूछिए। शिवि राजा कैसा दयालु था ! पर आखिर आप ने उस का मांस तराज़ू पर तुलवा ही दिया। कर्ण-सा शूर समर में भिड़ता हुआ देख उसे नीचे उतार उसी के दाँत आप ने गिरवाए। राजा बलि कैसा उदार था ! पर आप ने कैसा ग़ज़ब कर के उसे पाताल पठाया ! श्रियाल राजा के घर पहुँच उसी के हाथों उस का बच्चा कटवाया। आप की जो भक्ति करे उस की आप ऐसी ही गत बनाते हो !" "हे पुरुषोत्तम ! हमें तो आप का बड़ा भरोसा था कि इस भव-सागर के संकट में आप हमें तारोगे। पर हमें क्या मालूम कि जैसे अर्क-वृक्ष का प्रकाश नहीं पड़ता या दसेरे का सोना रहन नहीं रक्खा जाता, वैसे ही आप केवल नामधारी हो। अब तो यही उचित होगा कि आप अपना नाम छोड़ दें।" लड़ते-झगड़ते आप परमेश्वर को चाहे जैसी भली-बुरी सुनाते। अंत में यहाँ तक नौबत आ जाती कि—

मेरे लेखे देव मरा। जिसे होगा उसे हो ॥ १ ॥
न करूँ बात ना लूँ नाम। हुआ काम तमाम ॥ध्रु०॥
कभी स्तुति कभी निंदा। किया धंदा अपार ॥ २ ॥
तुका कहे चुप रहूँ। अब तजूँ जीवित ॥ ३ ॥

इतनी प्रार्थना करने या ऐसे लड़ने पर देव से श्रीतुकाराम महाराज माँगते क्या थे, इस का भी विचार करना चाहिए। पीछे एक स्थान पर कहा गया है कि तुकाराम जी को सगुण-भक्ति ही बड़ी प्रिय थी। पर आप की सगुण-भक्ति न केवल द्वैतभाव पर निर्भर थी न निरे अद्वैत पर। द्वैतभक्ति के सिद्धांत में देव और भक्त की भिन्नता का ज्ञान अंत तक रहता है। तुकाराम जी की भक्ति में यह न था। यहाँ तो देव और भक्त एक रूप थे। केवल देव और भक्त ही एक रूप नहीं, पुरुष, स्त्रियाँ, बालक सभी नारायण स्वरूप थे। परंतु यह होते हुए भी आप की उपासना नष्ट न हुई थी। वह ज्यों की त्यों बनी थी। 'मैं ब्रह्म हूँ' और 'वह तू है' इत्यादि महावाक्यों से आत्मा ईश्वर का अभेद ज्ञान रहते हुए भी उपासना के हेतु आप ईश्वर को ईश्वर और भक्त को भक्त मानते थे। सब अवयव एक ही देह के होते हुए भी कर्म करने के समय चाहे जिस भाग से जैसे जो कर्म चाहे नहीं किया जा सकता, वैसे ही देव, जगत् और स्वयं एक होते भी प्रत्यक्ष-व्यवहार में ये तीनों भिन्न ही मानने चाहिये। अद्वैत का ज्ञान आप को पूर्णतया हो चुका था, पर उस ज्ञान से आप के चित्त को शांति न मिलती थी। आप को तो भगवान् के चरणों की ही सेवा बड़ी मीठी लगती थी। देव और भक्त एक रूप हैं, इस सुख का अनुभव आप देव से भिन्न रह कर भी लेना जानते थे। ऐसे भक्त की याचना में यदि यह विचार पद-पद पर पाया जाय कि "भगवन्, हमेशा मेरी आँखों में अपनी मूर्ति जड़ी रहने दो। हे मेरे सुहृत् पंढरीश, आप का रूप भी मीठा और नाम भी मीठा है। मुझे इन्हीं का प्रेम दो। अगर कुछ माँगना है, तो यही माँगता हूँ कि आप मेरे हृदय में निवास करें। आप ही के चरणों के पास सब सुख है, फिर उन्हें छोड़ कुछ और क्या माँगू?" तो आश्चर्य ही क्या है! इस सगुण-भक्ति के अतिरिक्त आप और कुछ भी न चाहते थे। आप की इच्छा यही रहती कि सब इंद्रियाँ परमेश्वर

की सेवा में और चित्त उसी के ध्यान में मगन रहे। इंद्रियों को देह संबंध के कारण अन्यान्य काम करने पड़ें, पर मन हमेशा ईश-स्वरूप के चिंतन में ही लग्न रहे। गगरी पर गगरी सिर पर रख कर गूजरी जिस प्रकार खुले हाथ चलती है, लोभी को जैसे सब काम करते हुए धन का ही ध्यान रहता है, उसी प्रकार इंद्रियों की ओर से अन्यान्य काम होते हुए भी मन के ईश्वर-चरणों पर ही आसक्त बने रहने की श्रीतुकाराम महाराज की प्रमुख याचना थी।

इस के सिवाय आप और कुछ न चाहते थे। वेदांतियों के मोक्ष की तो आप को इच्छा भी न थी। आप बड़ी मौज़ से कहते कि "मोक्ष तो हमारे लिए मुश्किल ही नहीं। वह तो पल्ले में बँधा है। पर यदि आप इस जीव के भक्ति-सुख को पूर्ण करें तो आनंद है। जो जिस का है वही उसे देने में महत्ता क्या? इस बात को समझ कर कि हमारा सुख किस में है, हम उसी को चाव से लेंगे। आप तुकाराम को संसार में पैदा करें तो मज़े से कीजिए पर उस के मन में अपनी प्रीति को अवश्य स्थान दीजिए।" वेदांतियों के मोक्ष की तरह कर्ममार्गियों के स्वर्ग की भी आप को अभिलाषा न थी। आप कहते—"हे देव! न हमें आप का वैकुंठ चाहिए न सायुज्यमुक्ति। अगर देना ही है तो केवल अपना नाम हमें दो। क्योंकि वैकुंठ में भी और क्या रक्खा है!" "नारद, तुंबरु, उद्धव, प्रह्लाद, बलि, रुक्मांगद, सिद्ध, मुनि, गंधर्व, तथा किन्नर—वहाँ पर केवल आप का नाम और उस के विषय में अखंडित प्रेम!" सांसारिक मनुष्यों के-से अन्यान्य सुख तो आप कभी माँगते ही न थे। आप तो प्रार्थना करते कि "हे हरे, संतान न दो। संभव है कि उस के प्रेम में आप को भूल जाऊँ। द्रव्य तथा भाग्य न दो क्योंकि अगर इन की प्राप्ति हो तो इन के नाश के बाद दुःख होने का डर है। बस आप तो मुझे फ़कीर-जैसा बनाइए जिस से कि रात दिन आप ही की याद रहे।" ज्ञान-विज्ञानादिकों की भी आप को अपेक्षा न थी। आत्म-स्थिति का अर्थात् आत्मा ब्रह्म है इस ज्ञान का

तो आप विचार करना भी न चाहते थे। सायुज्यतामुक्ति आप को न भाती थी क्योंकि उस कल्पना में देव-भक्ति का मज़ा चखना असंभव था। इसी प्रकार देव को निर्गुण और निराकार आप नहीं मानना चाहते। क्योंकि निर्गुण माने तो गुण वर्णन कैसे हो और निराकार माने तो पूजन कैसे हो। इस अनपेक्षा का कारण आप यों बताते कि "मीठे को मीठा नहीं लगता" अर्थात् ये सब बातें तो हमारे पास ही हैं। फिर इन की प्राप्ति की प्रार्थना करने से क्या लाभ ? अगर प्रार्थना करनी ही है तो देवभक्ति की करनी चाहिए, क्योंकि उस में प्रतिदिन भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ मान, भिन्न-भिन्न प्रकार का मज़ा उठा सकते हैं।

जिस प्रकार कुछ बातों की प्राप्ति के विषय में परमेश्वर से प्रार्थना करनी पड़ती है, उसी प्रकार कुछ बातों के विषय में ऐसी विनय करनी पड़ती है, कि उन से ईश्वर बचावे। इन त्याज्य बातों में आप ने अहंभाव को सब से प्रमुख स्थान दिया है। मनुष्य इतना पराधीन और ऐसा दुर्बल रहते हुए भी कितना अहंभाव रखता है ? इस विषय में आप ने कई उदाहरण बड़े अच्छे दिए हैं। सूर्योदय के समय मुर्ग़ा कू-कू-कूं करता है। पर इस पर से यदि वह अपने को सूर्योदय का कारण समझे तो उस की मूर्खता को क्या कहना चाहिए ? तराज़ू कहे कि "मैं तौलती हूँ" पर वह बेचारी क्या जाने कि तौलने वाला दूसरा ही है। सिक्का समझता है कि उस की क़ीमत है, पर वह नहीं जानता कि उस की नहीं राजा के छाप की है। काठ की पुतली नाचती है पर क्या वह अपने ही मन से नाचती है ? उस की डोरी हाथ में पकड़ने वाला दूसरा ही होता है। इसी प्रकार मनुष्य अहंकार करता है, पर वह बिल्कुल भूल जाता है कि वह कुछ नहीं कर सकता। पेड़ की पत्ती भी जिस की आज्ञा के बिना नहीं हिलती, उसी की इच्छा बिना वह क्या कर सकता है ? पर ऐसा होते भी मनुष्य अहंकार से कैसा फूला फूला फिरता है ? इसी लिए तुकाराम जी का सदा प्रार्थना रहती कि "भगवन् इस अहंकार की गर्दन मारो।" अहंकार के साथ ही दुर्बुद्धि से

भी दूर रखने के लिए तुकाराम जी की सदा प्रार्थना रहती थी। बुद्धि का महत्व सब से अधिक है। मनुष्य को किसी काम में प्रेरणा देनेवाली वही प्रधान है। अत एव ब्राह्मणों ने अपने गायत्री-मंत्र में इसी बुद्धि के प्रेरक सवितृदेव की प्रार्थना की है। तुकाराम जी भी सदा प्रार्थना करते कि "हे नारायण मन में दुर्बुद्धि कदापि पैदा न होने दो। अब तो ऐसा कीजिए कि आप के चरण कमल ही मन में दृढ़ता से धरूँ। जो भाव मेरे मन में पैदा हुआ है, वही आपकी कृपा से सिद्ध हो जावें तो, उस से अधिक कुछ भी लाभ मैं न समझूंगा।" इसी प्रकार सब बुरी वासनाएँ, काम क्रोधादि षट्रिपु, आलस्य इत्यादिकों से भी बचाने की प्रार्थना तुकाराम जी ने की है। आलस्य के बारे में आप ने ईश्वर से प्रार्थना की है कि अगर आलस्य देना ही है तो विषयोपभोग के विषय में आलस्य दो। कई लोग पुनर्जन्म से बचने की प्रार्थना करते हैं, पर तुकाराम जी कहते "हे पांडुरंग, मेरी विनय सुनना हो तो मुझे मुक्त न करो, पर जन्म ऐसे दो जिन में आप के चरणों की सेवा करने का अवसर मिले। फिर स्वर्ग की भी मुझे इच्छा नहीं। मृत्यु-लोक में भी हम सुखी रहेंगे।"

आप की एक याचना सदैव यह रहती कि दुर्जनों की सोहबत से ईश्वर बचावे। इन दुर्जनों से आप को सब से बड़ी तकलीफ़ यह होती थी कि, ये लोग भजन के विषय में वाद-विवाद कर के चित्त में विकल्प पैदा करना चाहते थे" इन लोगों ने ऐसा पीछा किया है कि कुछ बोल ही नहीं सकता। जो बात मुझे नहीं समझ में आती वह सदा पूछते हैं। पैरों पड़ने पर भी नहीं छोड़ते। मैं तो तेरे पैरों के अतिरिक्त और कुछ जानता ही नहीं। मुझे तो सब जगह तू ही तू दिखता है। इन वादक-भांडों से कहाँ तक वाद करूँ? इन की जीभ तालू में ही क्यों नहीं चिपकी रहती? खाते तो हैं प्याज़ और बातें करते हैं कस्तूरी की!" इसी लिए सज्जनों के समागम की आप सदा इच्छा करते। संतों का अनुभव प्राप्त करने की, उन्हीं के सेवक होने की, उन्हीं

ही अधीन रहने की आप की सदा इच्छा रहती। आप के ये विचार इस सीमा तक पहुँचते कि पंढरीनाथ को कुलदेवता माननेवालों के दासियों का भी पुत्र होने की, पंढरी की वारी करनेवाले के घर का जानवर भी बनने की, दिन-रात श्रीविट्ठल का चिंतन करनेवालों के पैर की जूती होने की या तुलसी-पूजन करनेवालों के यहाँ झाड़ू भी करने की आप ईश्वर से प्रार्थना करते। सज्जन-दुर्जनों के विषय में तो यह बात हुई, पर सर्वसाधारण लोगों की ओर से भी आप को बड़ी तकलीफ़ होती। ये लोग बिना समझे-बूझे या तो स्तुति करते या निंदा। इस मिथ्या और अवास्तव प्रशंसा या निंदा से मनुष्य ख़ुद को भूल जाता है और स्वयं-अपने को दूसरे ही स्वरूप में देखने लगता है। इसी उपसर्ग से बचाने के लिये आप ईश्वर की सदा प्रार्थना करते। इसी हेतु आप एकांतवास की इच्छा करते। आप समझते थे कि प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इसी लिये लोगों से दूर जंगलों में रहने का निश्चय किया, इसी लिए कंद-मूल फल खा कर वे अरण्य में जा रहने लगे, इसी लिए उन्हों ने ध्यान लगा कर, मौन-मुद्रा धारण करने का अभ्यास किया होगा और इसी लिए आप भी यही चाहते थे कि लोगों से दूर रहें। श्रीतुकाराम जी महाराज ऐसे मनुष्यों की सोहबत चाहते थे, जो इन के मन का भाव समझ सके। यही बात आप ने एक उदाहरण द्वारा भली-भाँति समझाई है। एक कानडिन की एक मराठे के साथ शादी हुई। दोनों एक दूसरे की भाषा से परिचित न थे। एक बार स्त्री ने कानडी में पुकारा 'इलावा' अर्थात् 'अजी'। मराठा कानडी कहाँ समझता था? उस ने अपनी ग्रामीण-मराठी में समझा कि यह दूर होने के लिये क़सम दे रही है, अत एव वहाँ से चला गया। यह उदाहरण दे कर तुकाराम जी कहते हैं कि "जो एक से एक मिलते नहीं, उन के मेल में सुख की बातों से भी दुःख ही बढ़ता है।" आप इसी लिए ऐसे लोगों का सहवास टाल कर सज्जनों की संगति चाहते।

नाम स्मरण के विषय में आप की बड़ी दृढ़ श्रद्धा थी। 'मन काम, मुख में राम, था—

मनका फेरत जुग गए, पाय न मन का फेर।
कर का मनका छोड़ कर, मनका मनका फेर॥

इत्यादि उपदेशों से या दंभ से आप अपरिचित तो थे ही नहीं। ईश्वर का ध्यान मन में रहने के विषय में आप कितने पक्षपाती थे, ऊपर कहा ही गया है। फिर भी यदि कोई ऐसा कहता कि "जब तक हमारे मन में ईश्वर नहीं आता, तब तक नाम लेने से क्या फ़ायदा ?" तो जैसा कि किसी हिंदी कवि ने कहा है—

राम राम रटते रहो, जब लग तन में प्रान॥
कबहुँ तो दीनदयाल के, भनक पड़ेगी कान॥

आप भी कहते "मन में हो या न हो, पर मुख में तो रहे। इसी विट्ठल का नाम लेते और चिंतन करते देह छूट जावे। दंभ से हो या किसी अन्य प्रकार से हो, लोग हरि का दास तो कहें। ऐसा करते-करते ही कुछ काल में ईश्वर अवश्य ही सँभालेगा।" आप की यह श्रद्धा अंत तक अविचल रही और अंत में परमेश्वर ने आप को सँभाला भी।

———

दशम परिच्छेद : आत्म परीक्षण और अनुताप

जिस वस्तु को मनुष्य स्वयं पा सकता है, उस के लिए वह किसी की प्रार्थना नहीं करता। पर जब कोई वस्तु जिसे वह चाहता है, उसे नहीं मिलती, तब वह जिसे अपने से बड़ा या उस वस्तु के देने में समथ समझता है, उस स उस वस्तु को माँगता है। इसी माँगने की प्रार्थना करना मनुष्य मात्र का स्वभाव है। बचपन से ही उसे इस की आदत पड़ी हुई है। बचपन में वह स्वयं कुछ नहीं कर सकता। हर एक बात के लिए उसे माँगना ही पड़ता है और माता-पिता का प्रेम जिस पर जितना अधिक हो, उतनी ही उस को माँगने की आदत बढ़ती जाती है। अपनी माँग पूरी करने-वाले को ही परमेश्वर समझता है। बाल्यावस्था में जब कि अकेली माँ उस की सब इच्छा तृप्त करने में समर्थ होती है, तब वह माँ को ही ईश्वर-स्वरूप मानता है। वयोवस्था के बढ़ते-बढ़ते वह समझने लगता है कि उस की सब इच्छाएँ पूर्ण करने के लिए न तो माता समर्थ है, न पिता, न भाई, न मित्र या न राजा। इसी इच्छा-विकास के कारण सर्व-शक्तिमान् सर्व-श्रेष्ठ परमेश्वर की कल्पना प्रादुर्भूत हुई, जो कि अपनी सब कामनाएँ पूरी करने में समर्थ हो। बचपन की आदत से मनुष्य को ईश्वर की प्रार्थना करने की बुद्धि होती है और जो बात दूसरे किसी से मिलने की संभावना न हो, उस के लिए वह प्रायः ईश्वर की प्रार्थना करता है।

प्रार्थना करते-करते जब वह थक जाता है तब चिढ़ कर भली-बुरी सुनाता है और लड़ता है। अंत में जब देख लेता है कि प्रार्थना से या निंदा से अपनी कोई नहीं सुनता, तब निराश हो 'अब मेरा कोई नहीं है। मेरी मनोकामना पूरी करनेवाला देव भी मर गया' कह उठता है। पर जो निराशा उस से देव को मरवाती है, वही निराशा उसी

मूत देव की कल्पनाओं में से एक समर्थ और सजीव ईश्वर निर्माण करती है। जब वह देखता है कि अब कोई तारनेवाला नहीं है, वह परमेश्वर की शरण जाता है। पर उसे भी उद्धार करने में असमर्थ पा जब वह खुद ही अपनी वांछित वस्तु पाने के लिए कमर बाँध लेता है, उसी समय सत्य-संकल्प परमेश्वर उस की आत्मा में प्रार्थना पूरी कर लेने की शक्ति प्रेरित करता है। फिर वह सोचने लगता है कि इष्ट वस्तु-प्राप्ति उसे क्यों न हुई। क्या उसने योग्य प्रयत्न किए थे? यदि किए थे तो उन में क्या त्रुटियाँ रह गई थीं। या 'मर्ज़ दीगर दवा दीगर' हो गई थी। इन सब बातों को बड़ी ग़ौर से जब वह देखता है, तब उसे अपने असफल होने के कारण समझ में आते हैं। इसी विचार को आत्म-निरीक्षण कहते हैं। इस आत्म-परीक्षा के बाद जब वह भली-भाँति अपनी त्रुटियों से परिचित हो जाता है, अपने दोष समझ लेता है, तब वह उन पर आँसू बहाता है और आगे के लिए उन त्रुटियों को टाल कर या उन दोषों को दूर कर ठीक राह से उद्योग करता है। अंत में वह सफल हो बैठता है। कई बातों के मनुष्याधीन न होने से उसे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की ओर दौड़ना पड़ता है। इस परमेश्वर-प्रसाद के विषय में भी पूर्वोक्त सभी बातें होती हैं। श्रीतुका-राम जी महाराज बड़ी भक्ति से ईश्वर से वर माँगते थे और उस के लिए ईश्वर की प्रार्थना, करते थे। उस पर नाराज़ भी हो बैठते, लड़ते, निंदा भी करते और बार-बार अपनी मनकामना उस पर विदित करते। पर केवल विदित करने से या प्रार्थना, निंदा इत्यादि बातों से कहीं मनोरथ पूरे होते हैं? जब निंदा, स्तुति, लड़ाई इत्यादिकों से थक जाते तो आत्म-परीक्षण करते, त्रुटियाँ ढूँढ़ते, उन्हें त्याग फिर यत्न करते और अंत में सिद्धि पाते। यह मनःस्थिति एक ही बार न होती पर बराबर अव्वल से आखीर तक रहती। जिस मनोवृत्ति में आप होते उसी के अनुरूप आप के मुख से अभंग निकलते। गत परिच्छेद में हम उन

का परमेश्वर के साथ संवाद संक्षेप में सुना चुके हैं। इस परिच्छेद में थोड़ा आत्म-परीक्षण तथा अनुताप का भी आलाप सुनें।

आत्म-परीक्षण के समय सब से अधिक तीव्रता से जो बात ध्यान में आती है, वह है मन की दुर्जयता। जब श्रीकृष्ण भगवद्गीता का उपदेश अर्जुन को करने लगे, तब सब से प्रथम यही समस्या अर्जुन के सामने उपस्थित हुई। उस ने भी यही प्रश्न किया कि "भगवन्, यह मन बड़ा चंचल और ज़बरदस्त है। यह सबों को मथता है। इसे थाम रखना वायु को बाँध रखने की भाँति बड़ा कठिन है।" श्रीतुकाराम महाराज ने भी आत्म-परीक्षण विषयक अपने अभंगों में इस मन का अनिवार्यत्व बड़े अच्छे प्रकार से बतलाया है। इसी मन के कारण आप ने अपनी एक जगह कुत्ते से उपमा दी है। कुत्ता जैसे इस बात का विचार न कर के कि वह साफ़ है या नहीं, मालिक के पैरों में आ लिपटता है, मालिक को रोटी खाते हुए भी देख कर वहीं अपनी दुम इधर-उधर झाड़ता है और मालिक के क्रोध का खयाल न रख उस के शरीर पर चढ़ बैठता है, उसी प्रकार परमेश्वर के पास जाने में तुकाराम जी की स्थिति हुई थी। कितना भी विचार कर देखो, सदैव ध्यान में यही आता है कि मन क़ाबू में नहीं। एक घड़ी भर तो क्या, पल भर भी यह एक विषय पर स्थिर नहीं रहता। इंद्रियों के आकर्षणानुरूप यह सबों से पहले आगे दौड़ता है। मछली की भाँति एक दफ़ा निगला हुआ गल यह बाहर नहीं उगल सकता। जिस तरह ललचाया ढोर पीठ पर मार खाते हुए भी खाने की चीज़ से अपना मुँह दूर नहीं करता। मार खाता ही चला जाता है, पर गल्ले में मारा मुख हटाता नहीं, उसी तरह ऊपर से दुःख की चोटें पड़ते भी यह बेशरम मन विषयों से दूर नहीं होता। बकरी जैसे चट्टान पर दौड़ती चली जाती है। इस बात का विचार नहीं करती कि आगे जाने से गिरेगी या मरेगी। पर पीछे से डर मालूम होते ही कूद पड़ती है। मन का ठीक यही स्वभाव है। इस मन का दूसरा एक दोष यह है कि किए हुए

निश्चय पर यह दृढ़ नहीं रहता। पल-पल पर उस का निश्चय बदलता है। अच्छे-अच्छे विषयों पर दृढ़ विचारों से भी निश्चित किया हुआ मन फिर-फिर विकल्पों से भर जाता है। समुद्र की उछलती हुई लहरों का-सा इस का स्वरूप सदा बदलता रहता है। इस की प्रार्थना या विरोध जिस प्रमाण में किया जाय, उसी प्रमाण में वह प्रार्थित विषयों से दूर और निषिद्ध विषयों की ओर दौड़ता जाता है। जितने व्यवसायों में यह पड़ता है, उन्हीं के रंग ले कर मन उठता है, और इस प्रकार अनेक रंगों से रँगे जाने के कारण इस पर एक भी रंग भली-भाँति जमता नहीं है।

श्रीतुकाराम जी महाराज को सदोदित जिन बातों का अनुताप था, उन में एक बात यह थी कि संतों के वाक्यों को प्रमाण मान आप जिन विषयों पर श्रद्धा रखते थे, उन का बहुत दिनों तक आप को स्वयं अनुभव न था। तब तक आप हमेशा श्रीविट्ठल की यही प्रार्थना करते थे कि "जैसा सुख के कहलाते हो, उसी प्रकार का मुझे स्वयं अनुभव होने दो, अनुभव होने दो। अन्यथा फ़जीहत का ठिकाना नहीं। बिना निमक के बनाया हुआ भोजन किस काम का! बिना जान की लाश को सिंगारने से क्या फ़ायदा? स्वांग बनाया, पर उस के अनुरूप यदि आचरण न हो, तो लाभ ही क्या? दूल्हा-दुलहिन के न रहते शादी की सब तैयारियाँ की जावें तो पैसे का फ़जूल ही खर्च है। स्वानुभव के बिना कोरी बातें ही बातें व्यर्थ समझनी चाहिए।" जब तक भक्ति-सुख का अनुभव न हो, तब तक ज्ञान की बातें ही बातें क्या कर सकेंगी? केवल अद्वैतवाक्यों का विवरण कितना भी किया, पर स्वानुभव के बिना वह सब निरर्थक ही है। वे महावाक्य केवल तोते के-से रटे हुए शब्द हैं। वे शब्द भोजन किए बिना खाली पेट आनेवाली डकारों के से ही हैं। जब-जब आप इस बात पर विचार करते कि कीर्तन में या उपदेश में आप ऐसी कई बातों का हवाला देते थे जिन का कि स्वयं आप को अनुभव न था, तब आप को बड़ा बुरा लगता

और उसी अनुताप में आप कह उठते कि "पुरुष जैसा पढ़ाओ वैसा बोल उठता है, पर स्वयं न तो उन शब्दों का अर्थ भली-भाँति समझता है, न उस दशा का ही अनुभव करता है। स्वप्न में राज्य-प्राप्ति होने से जैसे कोई राजा नहीं होता वैसे ही मेरा अनुभव है। रसीली कविता कर लोगों के मन रिझाता हूँ, पर यह तो केवल जिह्वा का अलंकार हुआ। इस से श्रीहरि के चरणों की प्राप्ति कहाँ? यह तो वैसा ही है जैसा गौवें चरानेवाला मन में समझे कि 'गाएँ मेरी हैं'। पर इस मिथ्या समझ से सचमुच क्या फ़ायदा? लोग मुझे मानते हैं इस की मुझे बड़ी लाज आती है। क्योंकि जिस के लिए वे मुझे मानते हैं, वह बात तो मेरे पास है ही नहीं। यह बड़प्पन तो उसी प्रकार का है जैसा कि तौलते-तौलते घिस जानेवाले वजन का हो। कोमल काँटा अग्रमें नोकदार भी हो, तो भी ऊपर कड़ा न होने के कारण चुभता नहीं है। खिंची तसवीर में का रूप कैसा भी सुंदर हो, जब तक उस में जान नहीं तब तक उस की सुंदरता व्यर्थ ही है। उसी प्रकार अनुभव न होने से हे भगवन्, तुकाराम तो निकम्मा ही जान पड़ता है।" "खपरे के होन बना कर बच्चे खेलते हैं पर उस लेन-देन से क्या सचमुच लाभ या हानि होती है? कढ़ी की भी बातें और भात की भी बातें—इन बातों से क्या किसी का पेट भरता है।' 'शक्कर' अक्षर काग़ज़ पर लिखने और उन्हें चाटने से क्या वे मीठे लगेंगे? इसी प्रकार केवल शब्द ज्ञान से किसी का उद्धार हो सकता है? अनुभव के बिना यह तो केवल मसखरापन है।"

ऐसा होतें हुए भी अभिमान कभी-कभी आप को सता ही जाता। कभी-कभी आप को ऐसा जान पड़ता कि उन की अपेक्षा दूसरा कोई अच्छा बोलनेवाला भी नहीं। अभिमान से छूटना बड़ा कठिन है। तुकाराम जी कहते "आग लगे ऐसे ज्ञान के अभिमान को। इस ने मेरा ख़ून किया है। खाया हुआ अन्न अगर पचे तो ही हितकर है। अगर वह अन्न उगल पड़े, तो शरीर को पुष्ट करने के बजाय वह पीड़ा

ही देगा। इकट्ठे किए धन का यदि कोई उपभोग कर सके तो ही ठीक अन्यथा तो वह जान की आफ़त ही है। ऐसे ज्ञान से तो पूरा अज्ञान ही अच्छा है।" ज्ञान का अभिमान होते ही ईश्वर-स्वरूप से वह अभिमानी ज्ञानी दूर होता है। बच्चा सुजान होते ही मा उसे दूर-दूर रखती है। पानी के बूँद का मोती बनते ही वह पानी से दूर किया जाता है। मक्खन दूध से अलग निकलते ही दूध के ऊपर तैरने लगता है। उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी ईश्वर से दूर ही होता है। तुकाराम जी ने कहा है "मेरी जाति हीन होते हुए भी लोगों ने—संत-सज्जनों ने—मेरी स्तुति की। इसी कारण मेरे मन में गर्व पैदा हो गया। अब वह मेरा सर्वस्व हरण करना चाहता है। इसी कारण मैं ऐसा फूल उठा और मन में समझने लगा कि मैं ही एक ज्ञानी हूँ। हे पंढरीनाथ, तुकाराम इस गर्व से मुफ़्त मारा जाता है। उसे बचाओ।" इसी अनुताप से तप्त हो आप प्रार्थना करते कि मुझे न तो सुख चाहिए, न मान। पर मैं क्या करूँ? लोग रहते नहीं। इस देह के उपचार से मेरा शरीर जल रहा है। अच्छे से अच्छा मीठा अन्न भी विष जैसा जान पड़ता है। मेरी बड़ाई बखान करनेवाले लोगों की स्तुति अब मुझ से सुनी नहीं जाती। मेरा मन बहुत घबरा रहा है। इस मृगजल में मुझे क्यों फँसाते हो? मेरा यथार्थ हित करो। जलती आग से मुझे बचाओ और ऐसी कुछ तरक़ीब करो जिस से मुझे आप के चरणों की प्राप्ति हो।"

ईश्वर-प्राप्ति के जो अन्यान्य साधन माने जाते हैं, उन में से आप ने बहुत ही थोड़ों का अवलंब किया था। आप के लिए यह एक अनुताप के विषय की बात थी। वेदाक्षरों को पाठ करने का अधिकार न होने के विषय में आप को जो क्षोभ था, उस का हवाला हम पीछे दे ही चुके हैं। उसी का वर्णन इन स्थानों में भी पाया जाता है। ये सब ईश्वर-प्राप्ति के साधन बड़े कठिन हैं। अन्न छोड़ कर उपवास करना, जंगल में जा कर रहना, जप, तप, आदि करना, मनोनिग्रह करना, तीर्थयात्रा कर एक तीर्थ का जल दूसरे स्थान के ईश्वर को ले

जा कर चढ़ाना इत्यादि अनेक उपायों में से आप के हाथों एक भी न हुआ था। आप तो केवल वाणी से स्तुति करते थे। उस में भी आप अपने को कम बुद्धिमान् समझने के कारण सतुष्ट न थे। भाग्य से तो आप ऐसे हीन थे कि जिस काम को हाथ में लेते वही आप पर उलटता। न आप के हाथों भली-भाँति संसार हुआ था, न इतने दिनों तक आप को परमेश्वर प्राप्ति हुई थी। इस पर आप को अनुताप होता था। न ज़मीन से कुछ प्राप्ति होती थी, न लोगों से आप भीख माँगते थे। इस प्रकार आप अपने को पूरी तौर से हीन समझते थे। आप को इन्हीं कारणों से जान पड़ता कि "मैं दूसरे के दोषों को क्यों देखूँ? मुझ में उन की क्या कमी है। दूसरों के पापों का विचार करने से मुझे क्या लाभ? मेरे पास क्या वे कम हैं? दूसरे की दुष्टता का बयान क्यों करूँ? क्या मुझ में वह उन से एक रत्ती भर भी कम है? कर्त्तव्य को टालनेवाला और झूठा तो मुझ से बढ़ कर कोई न होगा जिस की तलाश में मैं फिरूँ! सब प्रकार की हीनता से मैं पूरा हूँ। पर हे पंढरीनाथ, ये सब बातें केवल आप के चरणों में समर्पित कर चुका हूँ।" इसी अनुताप के कारण जब-जब आप को श्रीविट्ठल प्रसाद की कल्पना होती थी, आप का हृदय कृतज्ञता से भर आता था। उस पर भी जब कभी आप को मनुष्य-स्वभावानुरूप अपनी भक्ति भी घटती जान पड़ती, आप को बहुत बुरा लगता। आप कहते "हे नाथ, पहले जो प्रेम मेरे मन में आप के विषय में था वह भी अब न रहा। मेरा मन मुझे इस बात की गवाही देता है कि मेरी ईश्वर-विषयक भक्ति दिन-प्रतिदिन घटती जाती है। यह सोच कर तो मेरे मूल-धन में ही मुझे घाटा दीख रहा है। स्वयं अपने को पूज्य बनाने के हेतु मैं दूसरों में गुण-दोष कई बार दिखलाता हूँ। यह तो ठीक मुर्गे की-सी ही बात है जो अपने पैरों से आगे-आगे खरोंचता चला जाता है यहाँ तक कि निकले हुए दानों को भी न देख उन पर भी धूल फेंकता ही जाता है।"

प्रायः यह माना जाता है कि षड्रिपुओं में काम, क्रोध और लोभ सब से अधिक प्रबल होते हैं। पर इंद्रिय-दमन करनेवाले लोगों का अनुभव है कि इन तीनों को इतना प्रबल न मानना चाहिए जितना कि दूसरे तीन अर्थात् मोह, मद और मत्सर को। पहले तीनों के विषय में यह कह सकते हैं कि उन का प्रादुर्भाव न केवल उसी मनुष्य की समझ में आता है जिस के कि चित्त में ये आ कर जम जाते हैं वरन् अन्य पुरुषों को भी यह ज्ञान हो जाता है कि फ़लाँ आदमी में ये तीन शत्रु जम गए हैं। इन का स्वरूप ही ऐसा स्थूल है कि वह छिपाए-छिपाया नहीं जा सकता। परंतु इस दूसरे तिगड्डे की बात और ही है। ये तीनों इतने सूक्ष्म-रूप से हृदय में प्रवेश करते हैं कि दूसरों की तो बात ही क्या, ख़ुद उस मनुष्य को भी जिस के मन में ये प्रादुर्भूत होते हैं, पता तक नहीं चलता कि ये चोर भीतर घुसे हैं या नहीं। प्रकट रूप से रहनेवाले वैरी से रक्षण कर लेना सुलभ है, पर इन छिपे शत्रुओं से छुटकारा पाना बड़ी टेढ़ी खीर है। दंभ इन तीनों का मिश्र या संयुक्त स्वरूप है। मोह से मनुष्य को अपने निज स्वरूप की भूल हो जाती है। वह स्वयं अपना असली स्वरूप नहीं पहचान सकता। मद से वह अपने को दूसरे ही प्रकार का समझने लगता है। अपने में न होते हुए सद्गुणों की भी वह अपने तईं मिथ्या कल्पना कर लेता है। जब इन दोनों का असर भली-भाँति जम जाता है, तब मत्सर उसे दूसरों के विषय में अंधा करता है। फिर उस को दूसरों के राई से दोष भी पहाड़ बराबर नज़र आते हैं। तथा दूसरों के पर्वत-प्राय सद्-गुणों पर उस की आँखें ही नहीं पड़तीं। इन तीनों के कारण एक प्रकार की आत्म-वंचना होने लगती है। इस के कारण मनुष्य अपने दोष नहीं देखता, गुण ही गुण देखने लगता है, यहाँ तक कि अपने दुर्गुणों को भी सद्गुण समझने लगता है। दूसरों के प्रति उस की दृष्टि इतनी कलुषित होती है कि उन के सद्गुण तो इसे दीखते ही नहीं। केवल दुर्गुण ही दुर्गुण दिखाई देते हैं। यहाँ तक कि उन

वेचारों के सद्गुण भी इसे दुर्गुण के ही स्वरूप में गोचर होते हैं। बस, दंभ का यही स्वरूप है। ऊपर की खूब बनाता है, अंदर की छिपाता है और बाहर की दृष्टि बदल देता है।

दंभ पर श्रीतुकाराम जी महाराज की बड़ी वक्र दृष्टि थी। अच्छे कामों का ढोंग करने के आप पक्षपाती केवल इसी लिए थे कि अच्छे काम करने की दंभ से क्यों न हो पर आदत पड़े। परंतु इस से यह न समझना चाहिए कि आप दंभ के पक्षपाती थे। दंभ का निषेध आप ने बड़ी तीव्रता से किया है। दंभ पर आप कहते हैं "ज़बरदस्ती बाहर का स्वाँग तो खूब बनाया, पर मन में तो बुरी बातों का त्याग हुआ ही नहीं। इस बात का तजरुबा मुझे नित्य प्रति रहा है। क्षण भर जागृतावस्था आती है पर फ़ौरन ही जो स्वप्न दीखने लगते हैं, उन में जागती हालत का अनुभव नहीं होता। वह सब भूल जाता हूँ। इस संसार के बाहर तो मन अभी गया ही नहीं। वह तो दिन-प्रतिदिन उन्हीं धंधों को कर रहा है। यह तो हुई बहुरूपी लोगों की-सी बात कि ऊपर का रूप बदला पर भीतर ज्यों का त्यों रहा।" ऊपर से हरिदास कहलाते, भीतर भिन्न भाव रहता। गाना, नाचना, भजन करना, सब लोगों को दिखलाने के लिए होता है। नारायण का असली प्रेम दूर ही रहता है। जो असल में समझना चाहिए वह तो समझता नहीं। केवल दंभ में डूबे जाते हैं। कालपुरुष ने आयु-मर्यादा की गिनती नियत कर दी है। रोज़ उस में कमी ही होती जाती है। पर मनुष्य इन बातों का विचार कहाँ करता है? सत्य का स्वरूप तो भीतर-बाहर एक-सा रहता है। फिर जहाँ अंदर एक, बाहर एक वहाँ सत्य की उपस्थिति कैसे हो? चरें तो परमेश्वर-प्राप्ति की इच्छा और करें बुरे काम! फिर ईश्वर कैसे मिले? यही बात ध्यान में ला कर, आप परमेश्वर से लड़ते-झगड़ते रह जाते। आप के ध्यान में आ जाता कि मन में संसार की बातें और बाहर भक्ति का ढोंग है। इसी लिए परमेश्वर के चरण दूर हैं। "मन में बसे लोभ अरु आसा। लोग कहत हैं हरि के दासा।"

इस प्रकार से न तो देव मिलता है, न संसार होता है। दोनों ओर से मनुष्य चोर ही ठहरता है। पानी में कूद पड़े, पर जिन तूंबों के आधार पर कूदे, वे ही यदि फूटे हों, तो किनारे कैसे लगे? मन में तो षड्रिपु जाग रहे हैं। ऊपर से भगवद्भक्त कहलाते हैं। यह तो वैसे ही हुआ जैसे, "पेट में उठ रहा है शूल और ऊपर से लगाया जाता है चंदन। उस चंदन-चर्चन से क्या सुख? बुखार से मुँह हो रहा है वेस्वाद और आगे रक्खे जायँ मीठे-मीठे भोजन। पर वह वेचारा उन का स्वाद कैसे ले? इसी प्रकार हे पंढरीनाथ, आप ने लोगों में तो मेरी प्रतिष्ठा खूब बढ़ाई, पर जब तक मेरा दिल न सुधारे तब तक यह सब किस काम का!"

संसार छोड़ने के विषय में आप का दृढ़ मत था कि जब तक मनुष्य अपनी सब आशाओं का त्याग न करे, अपनी आशाओं का वृक्ष समूल न उखाड़ सके, तब तक उसको वैरागी न बनाना चाहिए। तब तक उस के लिए तो यही ठीक है कि वह संसार में गृहस्थ ही बना रहे, नहीं तो न इधर का रहेगा न उधर का। इसी कारण श्रीतुकाराम महाराज ने यद्यपि संसार वास्तव-रूप में मन से छोड़ दिया था, तथापि आप ने वैरागी-वृत्ति को स्वीकार न किया था। परंतु इसी कारण कभी-कभी आप के मन में ऐसा भी विचार आता कि स्त्री पुत्रादिकों के विषय में थोड़ी बहुत आशा रहने के कारण और विषयों में मन आसक्त रहने के कारण ही ईश्वर दूर रहा। कभी-कभी लोक-लाज के लिए आप कुछ काम करते, पर अंत में समझते कि इन्हीं कामों से परमेश्वर दूर रहा। पर पीछे से पछताने में क्या लाभ था? अगर पहले ही यह बात समझ में आ जाती तो यह ग़लती आप क्यों होने देते! एक दम ही ईश्वर के चरणों पर जा गिरते और दूसरी किसी बात को आड़ न आने देते। झूठ के बस क्यों होते और फ़ज़ूल बोझ सिर पर क्यों उठाते? गर्भवास ही क्यों लेते और कुटुंब की सेवा क्यों करते? पर भला हुआ कि देर से क्यों न हो, समझ तो आ गई। झूठी बातों की आस में फँसे

थे, मिथ्याभिमान से अनेक दोषों के पात्र हुए थे, मृत्यु की याद भूल गए थे, लोभ में बुद्धि को प्रवृत्त कर चुके थे, यहाँ तक कि शहद पर बैठी हुई मक्खी की-सी वह छूटने न पाती थी। परंतु धीरे-धीरे आँखें खुल गईं। भला हुआ, अन्यथा सारा संसार आप के नाम से चिल्लाता और रोता। संसार-समुद्र पर आप ने एक रूपक रचा है, जो कि कबीरदास जी के 'गुरु बिन कौन बतावे बाट' पदों के रूपक की याद दिलाता है। आप कहते हैं "यह भव-समुद्र बड़ा दुस्तर है। समझ नहीं पड़ता कि इस के पार कैसे जाऊँ? काम, क्रोधादि जलचर बड़े भयंकर दीख रहे हैं। माया, ममता इत्यादि भौंरे पड़े हुए हैं। वासनाओं की लहरें उठ रही हैं और उद्योगों की हिलोरें बैठ रही हैं। इस को तरने की केवल एक ही युक्ति है, और वह है नाम रूपी नौका का आश्रय।"

चरित्र-विषयक परिच्छेदों में कहा जा चुका है कि काम-क्रोधादिकों पर आप ने कैसी विजय पाई थी। पर लोगों की दृष्टि से यद्यपि यह ठीक था, तथापि आत्म-निरीक्षण की दृष्टि से जब श्रीतुकाराम जी महाराज देखते, तब आप को मालूम होता कि ये शत्रु हृदय में जीते ही थे, मरे नहीं थे। और तब तक आप का बोलना केवल ऊपर-ऊपर का ही था। विचार करने पर यही जान पड़ता कि न इंद्रियों का दमन हुआ था न उन के दमन करने की सामर्थ्य ही थी। सब शक्तियाँ क्षीण और कुंठित हो गई थीं। खुद को फ़ज़ूल ग़रूर हो गया था। पर असल में देखा जाय तो काम-क्रोध मन में राज्य ही कर रहे थे। केवल दूसरों को उपदेश करते थे, पर स्वयं एक भी दोष से पूर्णतया दूर न हुए थे। इन को जीतने का एक ही मार्ग था। सबों का उपयोग ईश्वर-प्रीत्यर्थ करने से ही इन का नाश होना शक्य था। जब हृदय ईश्वर से भर जाता, तभी इन्हें जीत लेना संभव था। इसी लिए आप ने कहा है कि, "ये शत्रु थोड़ी देर तक चुप बैठते हैं, पर पूर्णतया नष्ट नहीं होते। ये विष-द्वारबड़े दुस्तर हैं। अगर आप हे भगवन्, हृदय में पूरे-पूरे भर जाते, तो सभी विषय आप के स्वरूप में मिल जाते और मन निर्विषय हो जाता। ईश्वरकृपा

हो गई, इस की गवाही मन देने लगता और खाली शब्द ही शब्द बंद पड़ जाते। ऐसी सूक्ष्म-दृष्टि से देखने वाले को ही आगे लिखा अनुभव हो सकता है। "नाम लेते ही मन शांत हो जाता है, जिह्व से अमृत टपकने लगता है, और सब प्रकार के लाभों के शकुन होने लगते हैं। श्रीविठ्ठल की कृपा होने से मन रंग जाता है, और ईश-चरणों पर स्थिर होता है। पेट भरा-सा जान पड़ता है। इच्छाएँ मर जाती हैं और तृप्त पुरुष की डकारों के-से तृप्ति के शब्द स्वभावतः निकलने लगते हैं। सुख सुख की भेंट करने आता है, मुख को तो मानो शब्दों की निधि मिल जाती है और आनंद की सीमा ही नहीं रहती।

जब इतनी सूक्ष्म रीति से आत्म-निरीक्षण किया जाता है, अपना राई-सा दोष भी पहाड़-सा नज़र आता है और अपने सद्गुण नज़र के सामने नहीं ठहरते, तभी असली अनुताप होता है, तभी जिस बात की लौ लगी हो, उस के लिए चित्त बिल्कुल अधीर हो उठता है और मुख से ऐसे शब्द निकलते हैं कि "भगवन् आप को बार-बार याद दिलाने के लिए कहता हूँ कि मेरा भाव कैसा है। जो दिन बीत गए वे फिर नहीं आते। आने वाले दिनों की न कुछ सीमा है, न कुछ आशा है। गुणावगुणों के आघातों से दिल घबरा रहा है। तुम्हारा कुछ भी आसरा नज़र न आने के कारण चित्त अधीर हो गया है। आग लगे इस अधीरता को! आप तो हो भगवान् और हम हैं बिल्कुल अधीर। ऐसी दीन स्थिति में कितने दिन ठहरे रहें? अब तो यहाँ से अनुभव के साथ मुझे छुड़ाना ही चाहिए। मैं अपने स्वभाव के कारण बिल्कुल थक गया। अब तो कृपा कर मुझे धीरज दीजिए। बड़े प्रेम से गले लगा कर मेरे सब जलते हुए अंगों को शीतल कीजिए। अमृत की दृष्टि से मुझे देख मेरा घबराया हुआ जीव शांत कीजिए। मुझे उठा कर गोद में लीजिए और अपने पीतांबर से मेरा मुख पोंछिए। मेरी ठोड़ी पकड़ कर मुझे समझाइए। प्यारे पिता जी, अब तो तुकाराम पर इतनी कृपा अवश्य कीजिए।" ऐसी अनुताप भरी अधीरता के बाद परमात्मा दूर

नहीं रहता। हृदय में निवास करनेवाला वह हृदयेश्वर चित्त को शांति देता है, सब इंद्रियों को तृप्त करता है, वासनाओं को नष्ट कर डालता है, काम-क्रोधादि को सुलाता है, सदिच्छाओं को जाग्रत करता है, दुनिया भर में आत्म-स्वरूप दिखलाता है और शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, शीतोष्ण इत्यादि द्वंद्वों को दूर तथा आत्मानंद में निमग्न कर देता है। धन्य हैं वे भगवद्भक्त जिन्हें इस प्रकार ईश्वर-रूप की प्राप्ति हुई है तथा धन्य हैं वे लोग जिन्हें ऐसे भगवद्भक्तों के मुख से उन की अमृतमय वाणी सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। हम ऐसे जड़ जीवों को यद्यपि वह सौभाग्य न मिलता हो, तथापि वही अमृत हमारे लिए अद्यापि मौजूद है। पर फिर भी यहाँ न तुकाराम जी का मुख है न उन की भाषा। किंतु जब तक अर्थ वही है, तब तक शब्दों का महत्व नहीं। अमृत सोने की कटोरी से पीजिए, हाथ की प्याऊ से पीजिए या पत्ते के दोने से पीजिए। पीने वाले को समान लाभ होता है।

एकादश परिच्छेद : आत्मानुभव

आँख और कान में चार अंगुल का अंतर होता है। पर यही अंतर आँखों-देखी बात में और कानों सुनी बात में कई गुना बढ़ जाता है। कारण जिस वस्तु के देखने का अनुभव आँखों द्वारा होता है उस का कितना भी वर्णन कोई क्यों न करे, उस की यथार्थ कल्पना नहीं हो पाती। यह देखने के विषय में हुआ। यही बात उलटा कर कानों के विषय में भी कही जा सकती है। यथा किसी गाने की महफ़िल का चल-चित्र देखा जाय तो वह अनुभव तथा महफ़िल का दृश्य अपनी आँखों न देखे भी उस में का संगीत सुनने वाले का गान-विषयक अनुभव बिल्कुल भिन्न होगा। सारांश यह कि जिस विषय का अनुभव जिस इंद्रिय से आता है, वही इंद्रिय उस का अनुभव करने में समर्थ होती है, दूसरी नहीं। और तो क्या, बोलने की और चखने की दोनों क्रियाएँ एक ही जीभ करती है। पर वही जीभ किसी मधुर चीज़ का आस्वाद ले कर उसी का वर्णन यदि करने लगे, तो वह भी उस काम में असमर्थ हो जाती है। इस का कारण यही है कि मन को प्राप्त हुआ अनुभव वाणी से व्यक्त नहीं हो सकता। इसी को लक्ष्य में रख कर गुसाईं जी ने कहा है कि "गिरा अनयन नयन बिनु बानी" अर्थात् जिस में वर्णन करने की सामर्थ्य है वह वाणी देख नहीं सकती और जो नेत्र देख सकते हैं, उन के पास बोलने के लिए वाणी नहीं है। पर ऐसा होते हुए भी प्रत्यक्ष अनुभव ले कर उस का वर्णन करने वाले और केवल सुनी-सुनाई या पढ़ी-पढ़ाई अनुभूत बातों का बयान करने वाले में बड़ा फ़र्क़ होता है। उदाहरणार्थ खाने के अनुभव की ही बात लीजिए। मान लीजिए, एक भूखा आदमी केवल पुस्तकें पढ़ कर या पेट-भरे लोगों की बातें सुन कर पेट भर खाने के सुख का वर्णन कर रहा है। वह कितना भी विद्वान् क्यों न हो, उस की वर्णन-

शक्ति कैसी भी ज़बरदस्त क्यों न हो, पर उस के इस अनुभूत वर्णन की अपेक्षा, पेट भर खा कर अफरे हुए आदमी की केवल एक डकार, उस सुख की कल्पना श्रोताओं को अधिक दे सकती है। अनुभव की बात कुछ और है। श्रीसमर्थ रामदास स्वामी जी की भाषा में कहा जाय तो 'सिवाय अनुभव के बोलना ऐसा है, मानों कुत्ता मुँह फाड़ भूँकता है।' अनुभवी मनुष्य की आवश्यकता संसार को इसी लिए अधिक है। उस की एक नज़र, उस का एक स्पर्श, उस का एक शब्द पृष्ठ-भर उपदेश से अधिक क़ीमत का है। श्रीतुकाराम जी महाराज के स्वानुभूतिपर उद्गारों का इसी में महत्व है कि ब्रह्मानंद की कल्पना का उद्गार वे बहुत थोड़े शब्दों में पाठकों के प्रति भली-भाँति कर देते हैं।

कल्पना कीजिए कि एक बड़ा बीमार आदमी है। बीमारी से बेचारा कँदरा गया है और कई दवाइयाँ करके थक गया है। दैव-वश कहिए या उस के उद्योगवश कहिए, उसे एक ऐसा रसायन मिल गया कि उस की काया नीरोग हो गई, बीमारी जाती रही, फिर से आरोग्य मिल गया। ऐसी स्थिति में कोई भी कल्पना कर सकता है कि उस के मुख से किन विचारों का सब से अधिक उच्चार होगा। सब से पहले तो वह बड़ी ख़ुशी मनावेगा और फिर अपनी नीरोगता का वर्णन करेगा। वह दवाई कहाँ से और कैसे मिली, उसे तैयार कैसे किया, अनुपान क्या था पथ्य क्या किया, इत्यादि बातें यदि वह बार-बार कहे, तो आश्चर्य ही क्या है? मामूली रोगी पुरुष की यदि यह बात हो भवरोग-सी बीमारी, श्रीतुकाराम जी-सा मरीज़, श्रीविट्ठल-नाम का रसायन और ब्रह्मानंद-रूपी आरोग्य की प्राप्ति—तो इस के विषय में कहना ही क्या है! इस रसायन का वर्णन करते हुए महाराज कहते हैं "प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के भागों को अटा कर यह उत्तम रसायन बनाया। ज्ञानाग्नि पर उसे ख़ूब आँच दे कर कड़कड़ाया। जब ब्रह्म में उस का रस पूरा-पूरा मिल गया, तो प्रतीति-रूपी मुख से उस का सेवन

किया। बड़ी साधना से हर एक ख़ूराक के साथ उस का ध्यान रक्खा। तब वह रस सब शरीर में सयरस हो गया । सब काया सुख से भर गई। अब तो तुकाराम के आठों अंगों को आरोग्य-प्राप्ति हो गई। अब तो वह आत्म-रंग में रँग गया।" इस रंग में रँगे जाने की देह-स्थिति भी आपने क्या अच्छे प्रकार से बखानी है? आप कहते हैं "हृदयस्थ निशानी पहचान कर चित्तवृत्ति स्थिर हो गई। प्राण-वायु लँगड़ा गिर पड़ा। अधखुले नेत्र तेज से चमचमाने लगे। गला भर आया। शरीर भर में रोंगटे खड़े हो गए। मन तो निज रूप से ऐसा लिपट गया कि कहीं बाहर आना-जाना ही भूल गया। जिधर देखो उधर नील-वर्ण का प्रकाश दीखने लगा। जिह्वा को अमृत-पान होने लगा। आनंद पर आनंद की हिलोरें आने लगीं और प्रेम से डोलता हुआ तुकाराम अब निश्चय-पूर्वक परमात्मा में लीन हो गया।" "श्रीपांडुरंग की कृपा से सब संदेह और बुद्धि-भेद दूर हो गए। अब तो जीवशिव की शय्या आनंद से सजाई गई। तुकाराम ने उस पर आरोहण भी किया। अब उसे निज-रूप की नींद लग गई और अनाहत ध्वनि के गीत उस को नींद न खुलने के हेतु गाए जाने लगे।" "अब तो जिधर देखो उधर प्रेम का सुकाल हो गया है। रात-दिन प्रेम का सुख लूट रहे हैं। सब दुःखों से छुटकारा पा कर सब प्रकार के श्रम दूर हो गए। इस दुनिया में अब तेरा-मेरा भाव नष्ट हो गया। अब पांडुरंग ही पांडुरंग रह गया। सब अलंकारों से अब हम सज गए और सबों से अधिक सुहावने दीखने लगे। अब तो तुकाराम ऐसे सुदैवी का दास बन गया है कि उसे किसी और की आस नहीं रही"। "अब तो प्यास प्यास को पी गई और भूख को भूख ने खा डाला। श्रीविट्ठल ने ऐसी तलाशी ली कि जहाँ का तहाँ नहीं हो पाया। वासना को अब वासना ही नहीं बची और चंचल मन तो श्रीविट्ठल के चरणों पर पंगु हो कर गिर पड़ा। जीव की भूल जीव ने पहचान ली। यदि अब कुछ बाक़ी बचा है तो वह है एकाकी तुकाराम।"

यह भव रोग क्या है ? इस जगत् में जितनी चीज़ों का इंद्रियों को ज्ञान होता है, उन के नाम और रूप को छोड़ उन का अंतर्गत तत्व न पहचानने से मनुष्य माया के फेर में पड़ता है और यह मेरा यह तेरा इस प्रकार का भेद-भाव धारण करता है। बस, यही भव-रोग है। यदि यह सत्य हो, तो जिस रसायन का तुकाराम जी ने वर्णन किया वह और कुछ न हो कर सृष्टिगत सब पदार्थों का मूल-तत्व और स्वयं अपने देह में प्राप्त मूल-तत्व को पहचानना और दोनों में 'भेद नहीं, अभेद' जानना ही है। इसी को सर्वात्मकता कहते हैं। चर, अचर, सब वस्तुओं में एक ही तत्व भरा हुआ है। हमारी भ्रम-बुद्धि द्वैत भाव निर्माण करती है जो असली वस्तु का ज्ञान होते ही नष्ट हो जाती है। इस प्रकार का वर्णन तुकाराम जी के स्वानुभूति पर उद्गारों में कई बार आया है। आप कहते हैं "किसी सर्वज्ञ ने हाथ में रस्सी ले कर किसी अज्ञानी पुरुष को डराया कि वह साँप है। पहले तो वह डर गया। पर असली बात यानी डोरी का ज्ञान होते ही दोनों को भी डोरी एक सी ही ज्ञात होने लगी। हे हरे, तुम हम में भी इसी प्रकार का भेद पड़ गया था। मृगजल की बाढ़ में मैं अपने को बहता समझ उस बाढ़ को पार करने की कोशिश कर रहा था। गले की हँसुली, हाथ का कड़ा और सिर का फूल, ये तो सब अलंकारों के नाम-भेद हैं। पर यदि ये सब अलंकार गलाए जावें तो इन का नाम दूर हो कर यह सब एक ही सोने के रूप में आवेंगे। बाजीगर जैसे पर का कबूतर कर दिखलाता है, उस तरह तुकाराम को तो कृपा कर न भुलाइए।" "मिश्री और चीनी केवल नाम और रूप में ही भिन्न हैं। पर मिठास दृष्टि से देखा जाय तो दोनों में क्या फेर है ? इसी प्रकार हे पांडुरंग, तुम में और हम में क्या फ़र्क़ है ? फिर 'यह मैं' 'यह मेरा' इत्यादि प्रकार से दुनिया को क्यों फँसाऊँ ? पैर, हाथ, नाक और सिर में एक ही सोना अलग-अलग गहनों के नाम और रूप से पहना जाता है। पर आँच में गलाने के बाद उन में क्या भेद रह जाता है ? जब तक आदमी

सोते-सोते सपना देख रहा है, तभी तक उस स्वप्न के लाभ-हानि से वह खुशी मनाता है या सिर पीट कर रोता है। पूर्णतया जाग जाने पर दोनों बातों का सुख-दुःख एकदम दूर हो जाता है। "यही जाननेवाला पुरुष पंडित है और कोई भी यदि अहंकार दूर कर विचार करे, तो उसे यह ज्ञान सहज में हो सकता है। जब सभी लोग आत्म-स्वरूप में दीखने लगते हैं, तो उन के गुणों या दोषों की ओर दृष्टि जाती ही नहीं। नाले का पानी समुद्र में मिल जाने पर अब उस में नाले के गुण दोष कहाँ रहे? वह तो अब समुद्र-रूप ही रहेगा। उसी प्रकार तुका-राम महाराज के मन का भेद नष्ट हो जाने पर फिर दुःख कहाँ से बचा? जिधर देखो उधर उन के लिए सुख ही सुख हो गया।

इस प्रकार की सर्वात्मता मन में दृढ़ होने के बाद यदि उपासना में कुछ अर्थ बाह्यदृष्टि से न रहे तो कुछ आश्चर्य नहीं है। फलवाले पेड़ के फूल का महत्व तभी तक है, जब तक उस फूल का रूपांतर फल में नहीं हुआ। फल दृश्य होते ही फूल अदृश्य होने का दुःख नहीं होता। उसी प्रकार जब सर्वात्मकता-पूर्ण ज्ञान हो गया, तब फिर पूजन करने वाला पूजक, पूजन के साधन और जिस का पूजन करना हो वह पूज्य परमेश्वर तीनों बातें एक ही हो जाती हैं। फिर तो ऐसा जान पड़ता है कि किस का उपासना करूँ और करूँ भी तो उस में मेरा क्या है? तुकाराम महाराज पूछते हैं, "हे केशवराज, मेरा यह तो संदेह अब मिटा दो कि आप का पूजन कैसे करूँ? अगर जल से तुझे नहलाऊँ, तो जल तुम्हारा ही स्वरूप होने के कारण उस में विशेष क्या है? चंदन की सुगंध और सुमनों का सुवास तुम्हारा ही होने के कारण, मैं दीन अब आप पर क्या चढ़ाऊँ? दक्षिणा दूँ तो धातु भी नारायण-स्वरूप है और नैवेद्य समर्पण करूँ तो अन्न तो साक्षात् पर-ब्रह्म ही है। अगर भजन करूँ, तो सब शब्द ॐकार रूपी नाद ब्रह्म ही हैं और आप से सब पृथ्वी भरी होने के कारण नाचने को भी खाली स्थान नहीं। फलदाता तो तुम्ही हो, तांबूल, दक्षिणा भी तुम्हीं हो,

तो अब बतलाइए कि आप का पूजन कैसे करूँ ?" और एक अभंग में आप कहते हैं "अब तो मैं न पाप मानता हूँ न पुण्य, न सुख या न दुःख। हानि-लाभ की मेरी सब कल्पनाएँ नष्ट हो गईं। ज़िंदा रहते भी मैं मर गया। मेरा आप पराया भाव नष्ट हो गया। संसार का मूल उच्छिन्न हुआ। अब तो ज़ात, अधिकार, वर्ण, धर्म किसी का भी ठिकाना न बचा। सच-झूठ, जन-बन, अचेत सचेत इत्यादि द्वैतों के लिए स्थान ही न रहा। सब देह श्रीविट्ठल के चरणों पर जब मैंने समर्पण किया, तभी मेरी सब प्रकार की पूजा पूरी हो चुकी" "अब तो कुछ काम ही न होने से मैं पूर्णतया निष्काम हो चुका। अब तो आग्रह-पूर्वक कोई काम न कर निश्चल बैठ जो बने वही काम करूँगा। कुछ न कुछ छंद ले कर दुनिया बड़े मज़े से दुःख करती है। इस लिए तुकाराम अब दुनिया से अलग हो कर बिल्कुल अकेला रहा है।" "बस इस नामरूप की उपाधि का जितना दाग़ लगा उतना बहुत है। अब ज़्यादा दुःख अपने पास न आने देंगे। फिर-फिर से कीचड़ में हाथ भरना और धोना किस काम का ? यह कहना तो चलते हुए मार्ग में विघ्न डालना है। ईश्वर ने क्या नहीं कर रक्खा ? वह सच तो अपने ही पास है। तुकाराम का अहंकार जाते ही उस की आप पर भावना नष्ट हो गई।" यह स्थिति यहाँ तक पहुँची कि अंत में आप कहने लगे कि "अब तो दिवाला निकल गया और देव का काला हो गया। अब कुछ बोलने का काम ही नहीं। मन का मन में विचारना है। सब बोरियाँ समेट कर दूकान बढ़ा दिया है और भीतर बत्ती जला दी है। अब तो घर के घर में ही हिसाब करता हुआ तुकाराम बैठा रहेगा।" देही रूपी घर छोड़ अब बाहर ईश्वर ढूँढ़ने की ज़रूरत ही न रही। अब आप लोगों से भी उपदेश करने लगे कि "घर में तो देव है और अभागा फ़ज़ूल घूम रहा है। देव को मन में देखता नहीं, घूम-घूम कर तीरथ के गाँवों में उसे ढूँढ़ रहा है। मृग की नाभि में तो कस्तूरी रहती है, पर उस के सुवास की खोज में बन-बन मारा

फिरता है। जैसे शक्कर का मूल ईख, वैसे ही देव का मूल देह। दूध में ही मक्खन है, पर लोग उसे मथना नहीं जानते। तुकाराम तो अज्ञ लोगों से यही कहता है कि इस मथने की क्रिया को जानो और देह में ही देव को पहचानो।"

यह मंथन-विधि सहज तो है नहीं? गन्ने का शक्कर बनाना आसान नहीं है। पर हाँ यदि कोई प्रयत्न करे तो यह बात शक्य तथा सुसाध्य है। इस के लिए द्वैत-बुद्धि का नाश होना चाहिए। देह, बुद्धि, तथा संसार की लालसाएँ साफ़ छूट जानी चाहिए। संसार छोड़ने की आवश्यकता नहीं, पर उस की आस, उस का मोह, उस विषय का आग्रह छूट जाना चाहिए। अगर मनुष्य को डर रहता है तो केवल इस देह-दुःख का तथा इस देह से संबद्ध अन्य जनों के दुःखों का, इस लिए प्रथम देह-बुद्धि का नाश करना चाहिए। इसी लिए "हाथ में लाठी ले कर तुकाराम देह के पीछे पड़े। जहाँ आदमी जलाए जाते हैं, ऐसे मसान में भी उसे ले जा कर सुलाया। जितने सुखों का उस ने उपभोग कर लिया था, उन सबों का बदला निकाला। यह समझा कि सुख-दुःख भोगने वाला परमेश्वर है, और इसी समझ को दृढ़ कर डर को अपने पास तक फटकने न दिया। इस प्रकार दिव्य कर मन को जब दृढ़ किया तभी सच अनुभव की प्राप्ति हुई।" "अगर यह द्वैत-बुद्धि नष्ट हो, तो बाक़ी सब हरि ही हरि बचा है। फिर उसे ढूंढ़ने के लिए कहीं अपने से बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। पर यह जानने के लिए मन से ही मन को बंद कर डालना चाहिए। जानकार शिकारी शिकार की पहिचान कर के ही शिकार करता है। पहले तो इस बात का विचार मन ही मन में करना चाहिये कि यह देह सच है या मिथ्या। जहाँ देह ही सच नहीं वहाँ देह-संबंध के कारण फैला हुआ संसार भी सच नहीं है। यह तो किसी चोर को डराने के लिए खड़ी की हुई आकृति का-सा है जिसे वह रखवाला समझ रहा है। इस लिए तुकाराम लोगों को जता कर कहते हैं कि फ़ज़ूल न टटोलो। तुम्हारे शरीर में ही परमेश्वर है। ज़रा आँखें खोल कर देखो।" जब एक बार

आँखें खुल गईं और देह तथा संसार का मिथ्यात्व मन में दृढ़ भाव से जम गया तो फिर वंध्या स्त्री की संतति-सी मिथ्या संसार-कल्पना बाधा नहीं दे सकती। फिर तो यह बात ऐसी असंभव है जैसे सूर्य-बिंब में अँधेरा होना या मृग-जल से आकाश का भींग जाना। पूर्ण प्रकाश का सुख भोगनेवाले उस पुरुष के सम्मुख दृश्य वस्तुओं का आभास ज़रा भी नहीं ठहर सकता। उस चैतन्य-स्वरूप पुरुष को भोग, भोग्य और भोक्ता की त्रिपुटी भी नहीं सता सकती। तुकाराम के भी इसी ब्रह्मानंद में मग्न हो जाने के कारण उस की आँखों को अब संसार का ढचरा दिखता नहीं है।"

जब इस प्रकार देह-बुद्धि छूट जाती है, प्रपंच मिथ्या जान पड़ता है, तब मनुष्य स्वाभाविकतया बेफ़िक्र बन जाता है। फिर यदि किसी चीज़ का नाश भी हो जाय तो उस की उसे कुछ परवाह नहीं रहती। जो वस्तु गई वह कृष्णार्पण हुई, यही उस की भावना हो जाती है। इसी को वह सहज सेवा समझता है। जो होना है वह होता ही है। लाभ या हानि मनुष्य अपने संकल्प से मानता है। पर जब उस का मन संकल्प-विकल्प-हीन हो जाता है, तो उस के लिए सभी बातें पुण्यकारक होती हैं। कोई उसे मारता है या कोई उस की निंदा करता है। कोई उस का पूजन करता है तो कोई उस का सन्मान करता है। परंतु वह अपने को दोनों बातों से अलग ही समझता है। उस के लिए दोनों बातें एक-सी ही हैं। उस को तो कल्पना रहती है कि जो कुछ होता है, देह-भोग के कारण ही होता है। और इसी लिए जो कुछ भी होता है, उसी को वह अच्छा समझता है। उस की कल्पना से तो सभी देह-भोग की बातें कृष्णार्पण ही होती हैं। फिर दुनिया भर में उसे कोई दुर्जन ही नहीं दिखता। सभी उसे मा-बाप से हो जान पड़ते हैं। वह न किसी प्रकार की चिंता करता है न मन में भय धरता है। न किसी बात की उसे अभिलाषा रहती है न किसी बात के लिए वह तरसता है। दुनिया भर से वह ख़ुश रहता है और दुनिया भी फिर उसे निबाहती है।

जनता में वास करने वाला जनार्दन उसे सँभालता है। इसी स्थिति को पहुँच कर तुकाराम जी ने कहा है कि "मेरे ख़ुद के वेश की ही जहाँ मुझे फ़िक्र नहीं वहाँ दूसरों के विषय में मैं कहाँ तक फ़िक्र करूँ ? जो लोग मान-सन्मान की इच्छा करते हैं, वे चाहें तो ईश्वर के पास इन बातों की याचना करें और अपने संचित कर्म में लिपटे रहें। हम तो अपने देह को भोग के अधीन कर मानापमान की मिथ्या कल्पना से निराले हो चुके हैं। इसी लिए फ़ज़ूल बकबक कर व्यर्थ श्रम करने की कुछ आवश्यकता नहीं।" इस प्रकार बरतते-बरतते "भोग में ही त्याग हो जाता है और पांडुरंग का गान करते-करते इंद्रियों का ज़ोर हम पर से छूट जाता है। जब सब भार श्रीविठ्ठल पर ही डाला जाता है, तो चित्तवृत्ति निश्चल हो जाती है और भय, चिंता सब दूर होती है। जिस प्रकार चिड़िया का बच्चा मा के पंखों के नीचे दबा हुआ बैठता है, और अपनी चोंच या नखों से मा के पास से चारा पाता है और मा उस के लिए दाना ला कर उसे चराती है, उसी प्रकार तुकाराम श्रीविठ्ठल के चरणों पर गिर उसी के भरोसे पड़ा है।" इसी विश्वास में आप की दृढ़-श्रद्धा थी कि "श्रीविठ्ठल स्वयं सब प्रकार के दुःख सहन कर उत्तमोत्तम वस्तु ही हमें सुख में देंगे। वे हमारे पास से कभी दूर न बैठेंगे या कहीं अन्यत्र न जावेंगे। आगे पीछे रक्षण करते हुए जो कुछ घात-पात हम पर पड़ें उन से हमारा रक्षण करेंगे। हम कहीं क्यों न रहें, हमें शंका न रहेगी क्योंकि हमारा द्वैताद्वैत भाव नष्ट हो गया है। श्रीविठ्ठल ने अब तो तुकाराम का ऐसा भार उठाया है कि बाहर भीतर जहाँ देखो वहाँ विठ्ठल ही विठ्ठल भरा हुआ है। यही कारण था कि जब-जब आप के हितचिंतक आप की कुछ चिंता करते, तब-तब आप बड़ी दृढ़ता से कहते कि "मेरे विषय में अब आप कुछ चिंता न करो। जिस ने यह स्थिति निर्माण की है वही उसे सँभालने वाला है। मेरी इच्छा से क्या होने वाला है ? जो कुछ होना होगा वह होगा ही। तुकाराम तो सुख-दुःख दोनों से अलग है।"

इस बेफ़िक्री में मनुष्य उद्धत नहीं होता। उलटा विनम्र होता जाता है। जनता-स्वरूपी जनार्दन में श्रद्धा उत्पन्न हो जाने पर और उसी पर विश्वास डालने पर मनुष्य बड़ा लीन होता है, पर उस लीनता में उस का कोई नाश नहीं कर सकता। वह बड़ी निर्भयता से रहता है। तुकाराम जी कहते हैं "जब आग में धातु पड़ती है, तो पिघल कर उसी में लीन हो जाती है। वह स्वयं शुद्ध होती है और उस का नाश भी कोई नहीं कर सकता। पट में बने हुए तंतुओं के अनुसार वह धातु आग में ही मिली रहती है। गर्व, ऐंठ इत्यादि बातें बाहरी रंग की हैं। ये सब मिथ्या हैं और बाहरी बातों की-सी मृत्यु के साथ नष्ट हो जाती हैं। नदी में जब बाढ़ आती है तब जहाँ बड़े-बड़े पेड़ उखाड़ कर फेंक दिए जाते हैं; ऐसी लहरों में भी लवे का घोंसला मज़े से रहता है। नदी का पूर उसे उखाड़ नहीं सकता। जो हाथी शत्रु-सैन्य को कुचल डालता है उसी के पैर-तले चींटी नहीं मरती। वहाँ उस का रक्षण कौन करता है? लोहे के घन से हीरे पर चोट मारी जावे तो वह लोहे में घुस कर ख़ुद को बचा लेता है पर बड़े-बड़े कड़े पत्थर ऐसे बच नहीं सकते। इस लिए तुकाराम का कहना है कि लीनता ही सब बातों में सार है, और खासकर भवसागर पार उतारने में वही समर्थ है। सिर पर बड़प्पन का भार लेनेवाले डूब मरने के ही लायक़ हैं।" माया और ब्रह्म के झगड़े में माया से छुटकारा पाना हो, तो लीनता के सिवा और कोई अच्छी तरक़ीब नहीं है। ब्रह्म और माया एक-दूसरे से ऐसे संबद्ध हैं जैसे शरीर और छाया। छाया शरीर को छोड़ कर नहीं रह सकती। तोड़ कर उसे शरीर से अलग करना भी असंभव है। पर यदि शरीर ज़मीन पर नम्र हो कर दंडवत् गिर पड़े तो छाया उसी में लीन हो जाती है। इसी प्रकार संसाररूपी परमेश्वर में लीन होते ही भेद-भाव की माया सहज में दूर होती है। ऐसे लीन पुरुष को फिर भय काहे का? तुकाराम जी ने कहा है कि "भय को तो अब हमारे चित्त में स्थान ही नहीं। जी-जान से आत्म-समर्पण करने पर डरने का क्या

कारण है ? अब तो हम जो-जो करेंगे वही ठीक है । दिन काटने के लिये कुछ न कुछ करते ही रहेंगे और जीवन का काम पूरा करेंगे ।

श्रीतुकाराम जी महाराज के स्वानुभूतिपर उद्गारों में जो कहीं-कहीं अभिमानावेश दीखता है वह इसी निर्भीकता पर निर्भर है । सर्वात्मकता के कारण संसार से एक रूप हो द्वैत-भाव से जो मुक्त हो गया उस के लिए काल भयानक नहीं है । काल जगत् को दो स्वरूपों में डराता है । एक तो परिस्थिति के रूप में जिसे संत लोग कलिकाल कहते हैं । दूसरा मृत्यु के रूप में । परंतु ये दोनों रूप श्रीतुकाराम जी के-से मुक्त पुरुष को डरा नहीं सकते । आप ने तो साफ़ साफ़ कह दिया कि "काल जगत् को खाता है, पर हम लोग उस के भी सिर पर पैर रखते हैं । हमारा नाच देख कर वह ठहर जाता है और हमें डराने के बजाय हमें संतुष्ट ही करता है । जगत् को खाते-खाते उस की जो भूख शांत नहीं होती वही हरि के गुण सुन कर तृप्त हो जाती है और उस की संतप्त वृति धीरे-धीरे शीतल हो जाती है पाप-पुण्य के विषय में आप के उद्गार सुनिए । आप कहते हैं " हम विष्णुदास दुनिया में ऐसे पटे के हाथ फिराते हैं कि न पाप हमारे शरीर को स्पर्श कर सकता है न पुण्य । सदा सर्वदा हम निर्भय रहते हैं, क्योंकि ईश्वर ने ही हमारा सब भार उठाया है । जिस सर्व-शक्तिमान् ईश्वर ने कलि-काल को निर्माण किया, उसी के अंकित होने के कारण हमें उसी का बल है । हम तो ऐसे ज़बरदस्त हैं कि ईश्वर के अतिरिक्त हमें दुनिया में कुछ दीखता ही नहीं ।" "कैसे आनंद से इधर-उधर बाजे बज रहे हैं, क्यों कि अहंकार को जीत और उस का सिर काट हम ने उसे अपने पैरों तले कुचल डाला है । जहाँ काल का ही कुछ चलता नहीं वहाँ दूसरों की बात ही क्या ? अब वैकुंठ को जाना कुछ कठिन नहीं है ।" ऐसी प्रबल भावना रखनेवाले पुरुष के ही मुख से निम्नलिखित उद्गार निकल सकते हैं । "अब तो मज़बूती के साथ कमर बाँध कर कलिकाल का सामना कर चुका हूँ । भवसागर के ऊपर पैरों पार करने

के हेतु पुल बना डाला है। आओ, छोटे-मोटे नर या नारियो, आओ। कुछ फ़िक्र न करो कि तुम किस जाति के हो। यहाँ तो न किसी प्रकार का विचार करने का कारण है, न किसी तरह की चिंता। जप, तप, करनेवाले लोग व्यर्थ के कामों में लगे रहते हैं। परंतु यहाँ तो मुक्त या मुमुक्षु दोनों प्रकार के लोगों को इजाज़त मिली हुई है। नाम का पूरा बिल्ला ईश्वर ने यहाँ भेजा है और उसी बिल्ले को धारण करनेवाला यह तुकाराम यहाँ आ कर आप को पुकार रहा है।"

इन उद्‌गारों से पाठकों को श्रीतुकाराम जी महाराज के विषय में यह बात स्पष्ट हो जावेगी कि जिस साधन से उन्हों ने इतनी उन्नतावस्था प्राप्त कर ली, उस साधन को उन्हों ने आख़ीर तक न छोड़ा। उपासना के स्वरूप में शिथिलता आते हुए भी नाम-स्मरण तथा ईश-भक्ति के विषय में आप अटल ही बने रहे। देव और भक्त एक रूप होते हुए भी भक्त अपने आनंद के लिए अपने को भक्त-स्वरूप में ही समझता है, और परमेश्वर का नाम-स्मरण करता ही रहता है। जो लोग देव-भक्त की एकता का ज्ञान होने पर नाम स्मरणादि साधनों को मिथ्या समझते हैं, उन को मिथ्या ठहराने के हेतु श्रीतुकाराम जी ने मिथ्यात्व का भी मिथ्यात्व दिखलाते हुए यों उत्तर दिया है। आप कहते हैं कि यद्यपि हँसना, रोना, गाना, नाचना, भजन करना सब झूठ है; मेरा-तेरा समझ कर अभिमान का बोझ उठाना झूठ है; भोगी, त्यागी, जोगी सभी झूठ हैं, तथापि झूठा तुकाराम झूठे परमेश्वर की झूठी स्तुति करने में भी झूठा आनंद उठाता है। अर्थात् जो लोग इसे झूठ समझते हैं, उन्हें इस झूठे भजन के लिए तुकाराम पर झूठा आक्षेप करने का क्या कारण है? इस नाम-स्मरण के आनंद की आप को ऐसी चाट लगी थी कि आप उस से कभी अघाते ही नहीं थे। आप कहते, "खाई चीज़ें ही खाने के लिए जैसे जी ललचाता है, मिले हुए प्रेमी जन से फिर-फिर मिलने के लिए जैसे जी तड़पता है, वैसे ही श्रीपांडुरंग के विषय में तृप्ति नहीं मिलती। जितनी ही उस

आनंद की प्राप्ति होती रहती है, उतनी ही अभिलाषा बढ़ती जाती है। इंद्रियों का सुखोपभोग-सामर्थ्य थक जाता है; पर फिर भी मन की भूख ज्यों की त्यों बनी रहती है।" आप समझते थे कि जब सारा जीव नारायण को समपर्ण किया है तो जितनी शक्तियाँ मनुष्य के पास हों, उतनी शक्तियों से उसी श्रीपति की सेवा करनी चाहिए। आप स्वयं जैसे इस काम में आनंद मानते थे, वैसे ही आप समझते थे कि ईश्वर को भी इस में आनंद मिलता है। और तो क्या संसार-निर्माण करने का कारण भी आप यही समझते थे। मनुष्य इस बात को ख़ूब अच्छी तरह से जानता है कि दर्पण का रूप मिथ्या है। पर जैसे इस बात को ख़ूब जानते हुए भी दर्पण में अपना रूप देखने से उसे संतोष होता है, वैसे ही आप का मत है कि ईश्वर ने भी अपना ही स्वरूप देखने के लिए इस जगत् को निर्माण किया। बच्चा जिस प्रकार एक ही काठ के बने हुए बाघ और गाय के साथ भिन्न भाव मान कर खेलता है, उसी प्रकार ईश्वर और भक्त एक रूप होते भी आप को ईश्वर-भक्ति करने में आनंद आया करता और इसी आनंद-प्राप्ति के लिए आप अनेक प्रकारों से उस परमेश्वर की सेवा करते थे। आप के मतानुसार मुक्त पुरुष वही है, जो बंधन से मुक्त हो कर भी आनंद से ईश्वर-भक्ति करता है। अभिनिवेश को छोड़ कर काम करना ही आप ईश्वर का सहज पूजन समझते थे। इसी लिए आप जो दूसरों को उपदेश करते, उस के भी विषय में आप की यही धारणा थी कि "प्राणि-मात्र के अंतर्याम में निवास करनेवाला श्रीहरि ही मेरे मुख से मुझे बुला रहा है। मैं तो केवल इतना ही जानता हूँ कि किसी भूल का द्वेष या मत्सर न करना चाहिए। और इसी विचार से तुकाराम समझता है कि लोगों को हित की बातें सिखाने में कुछ दोष नहीं है।" वास्तव में ऐसे ही पुरुष उपदेश देने के अधिकारी होते हैं और यदि लोगों पर उपदेश का कुछ असर पड़ता है, तो इन्हीं अधिकारी पुरुषों के किए हुए उपदेश का परिणाम होता है।

लोगों के लिए श्रीतुकाराम जी महाराज ने जो हितकर उपदेश किया है, उस का विचार अग्रिम परिच्छेद में किया जावेगा। यहाँ पर आप के स्वानुभूतिपर उद्गारों का विचार करते समय आप ने ईश्वर के पास जो वर-याचना की है, उसी का उल्लेख कर इस परिच्छेद को समाप्त करें। इस संसार में रहते हुए आप ने ईश्वर से यही माँगा है कि "महाराज, कृपा कर के अपनी प्रीति की पहचान दे कर मेरे मन को अनजान कर दो। फिर तो मैं संसार में ऐसे रहूँगा जैसे जलमें कमल का पत्ता। निंदा-स्तुति इत्यादि सुन कर भी न सुनूँगा और योगिराज का-सा उन्मनावस्था का अनुभव लेते हुए आनंद से रहूँगा, स्वप्न से जागा हुआ आदमी जैसे स्वप्न-सृष्टि को नहीं देखता, वैसे ही यह प्रपंच मेरी दृष्टि को दिखते हुए भी न दिखे। जब तक ऐसा न हुआ, तब तक जो कुछ कर रहा हूँ, सब तकलीफ़ ही तकलीफ़ है।" परमात्मा ने श्रीतुकारामजी को तो यह वर प्रदान किया। पाठकों को भी वह यही वर प्रदान करें!

द्वादश परिच्छेद : सदुपदेश

जैसी बानी वैसी करनी—श्रद्धा उस पर जड़ती है।
क्रियाशून्य वाचाल विषय में जमी हुई भी उड़ती है॥
जैसा कहता वैसा चलता—लोग उसे आदरते हैं।
ऐसे ही उपदेशक को जन सभी एक से डरते हैं॥

यदि दुनिया में सब से सहल कोई काम है तो वह है दूसरों को उपदेश करना। कोई भी इस बात को ध्यान में नहीं रखता कि उपदेश करने के लिए किसी विशेष सामर्थ्य या अधिकार की आवश्यकता है। जीभ उठाई और लोगों से कहने लगे, 'यों करो, यों करना चाहिये, यों न करना चाहिए इत्यादि।' हर एक मनुष्य अपने तईं खुद को दूसरों का उपदेशक होने योग्य समझता ही है। उपदेश के समय वह इस बात का बिल्कुल विचार नहीं करता कि वह स्वयं क्या करता है या कर रहा है। जो बातें वह दूसरों को सिखाता है, उन का वह स्वयं आचरण तो करता ही नहीं, वरन् बहुधा उस के बिल्कुल विरुद्ध उस का आचरण होता रहता है। आज जिधर देखो उधर ऐसे हजारों उपदेशक मिलेंगे जो स्वयं असत्य बोलते हुए सत्य की महत्ता समझाने की चेष्टा करेंगे, स्वयं सब प्रकार से इंद्रिय-सुखों में लोट-पोट रह कर दूसरों को इंद्रिय-सुख का त्याग करने का पाठ सिखावेंगे। हमारा समाज ऐसे वाक्पंडितों से भरा हुआ है, और जहाँ देखो वहाँ उपदेश-वाक्य बराबर कानों में गूँजते ही रहते हैं। पर इस सब का परिणाम क्या होता है? इतने उपदेशकों के उपदेश करने में कटिबद्ध रहते हुए भी हम जहाँ के तहाँ और ज्यों-के-त्यों हैं। इस का कारण केवल यही है कि उपदेशकों का काम अयोग्य लोगों के हाथों में पड़ा है। लोगों की निंदा करना, उन के दोष दिखलाना बड़ा आसान है। पर अंतर्मुख दृष्टि रख कर उन्हीं कामों के विषय में अपने पैरों तले क्या जलता है, इसे पहचानना बड़ा

कठिन है। श्रीतुकाराम जी महाराज इस प्रकार के उपदेशक न थे। उन की वाणी में अनुभव का तेज रहने के कारण वह बड़ी ओजस्विनी थी और उस का श्रोतृगणों पर प्रभाव भी ख़ूब पड़ता था। स्वयं अनेक-कष्ट सहन करने के कारण उन के सच्चरित्र के विषय में लोगों को पूरी पूरी दिलजमई हो चुकी थी। लोगों का दृढ़ विश्वास हो गया था कि आप जो कुछ कहते, सचमुच लोगों के ही हित का होता और उसे कहने में लोगों के हित को छोड़ आप का कुछ भी स्वार्थ न था। श्रीतुकाराम जी महाराज के स्वयं सब प्रकार के स्वार्थ से उच्चतम पद पर पहुँचे रहने के कारण उन के व्यक्ति-विषयक स्वार्थ की किसी को शंका भी न होती थी। लोग जान चुके थे कि केवल उन्हीं के हित के लिए आप का जीव टूट रहा था और यही कारण था कि लोग आप की बड़ी कड़ी-कड़ी फटकारें भी शांति से सुन लेते थे। आप के मन में किसी के प्रति द्वेषबुद्धि न रहने से आप के शब्दों की मार किसी व्यक्ति या जाति पर न पड़ कर हमेशा व्यक्तिगत या जातिगत दोषों पर पड़ती थी। आप साफ़-साफ़ कहते थे कि "मेरे बोलने पर कोई कृपा कर क्रोध न करो। मैं जो कुछ कहता हूँ, वह अनेक लोगों के हित के लिए है, और इसी लिए आप उसे शुद्ध-चित्त से सुनें। मैं किसी व्यक्ति की निंदा नहीं करता हूँ, केवल बुरी बातों के दोष दिखलाता हूँ। सबों के हित के अतिरिक्त मुझे लाभ ही क्या है?" आप का यह वचन लोगों को भली-भाँति समझ में आ चुका था और इसी लिए आप के मुख से सदुपदेश सुनने के लिए लोग बड़ी दूर-दूर से दौड़े आते थे। इस संसार में इंद्रियों पर विजयी सब सांसारिक सुखों की ओर से विरक्त और पहले कर के पीछे उपदेश देने वाला महात्मा क्वचित् ही मिलता है। परोपकारी जाग्रत पुरुष का हृदय नींद में पड़े हुए अन्य दुःखी लोगों को देख दुःखी होता है, और यही हृदय का दुःख हलका होने के हेतु उस के मुख से उप-देश-स्वरूप धारण कर बाहर निकलता है। ख़ुद का पूरा फ़ायदा होने पर भी सब लोगों का कल्याण जब तक न हो तब तक परोपकारी पुरुष

की आत्मा शांत नहीं हो सकती और इसी लिए कोई उसे पूछे या न पूछे वह उपदेश करता चला ही जाता है।

इसी प्रकार के सदुपदेश को श्रीतुकाराम जी महाराज ने कई बार मेघ-वृष्टि की उपमा दी है। चारों ओर की गरमी से भूतल पर की सब आर्द्रता नष्ट हो कर वही मेघरूप में परिणत होती है और फिर उसी भूतल को शांत करने के लिए वह वर्षारूप में गिरती है। उसी प्रकार दुनिया के दुःखी जनों के दुःख देख उसी संवेदना से श्रीतुकाराम जी ऐसे साधु पुरुष का हृदय पसीजता है और उसी पसीजे हृदय से सदुपदेश-भरे शब्दों की वर्षा होती है। ज़मीन पर पानी गिराता हुआ मेघ भूमि की योग्यायोग्यता का भेदभाव मन में रख कर नहीं बरसता। वह अपने स्वभावानुसार पानी गिराता है और नीचे की ज़मीन अपनी-अपनी योग्यतानुसार उस पानी को ग्रहण कर कहीं हरी-भरी होती है या कहीं अपने पर बूंद भी न ठहरने दे कर रूखी की रूखी ही रह जाती है। इसी तरह श्रीतुकाराम जी महाराज का उपदेश सार्वजनिक स्वरूप का रहता। वे किसी विशिष्ट व्यक्ति को अपने उपदेश का लक्ष्य नहीं बनाते थे। उपदेश सुन कर जिस में जो दोष होता उसे ही वह फटकार लगती और अपने अपने स्वभावानुसार वह उसे ग्रहण करता। आचार्य अभिनवगुप्त जी ने उपदेश के तीन प्रकार माने हैं--प्रभु-सम्मित, सुहृत्सम्मित और कांता-सम्मित। पहले प्रकार का उपदेश राजाज्ञा की नाईं कहता है "ऐसा-ऐसा करो। न करोगे तो दण्ड दे कर तुम से वह करवाएँगे।" सुहृत्सम्मित उपदेश हितकर मित्र-सा स्पष्ट शब्दों में व्यक्तिगत दोष दिखला कर उस व्यक्ति को सुधारने का यत्न करता है। और तीसरा प्यार करने वाली पत्नी की तरह प्रत्यक्ष उस व्यक्ति का उल्लेख न कर केवल सामान्य शब्दों में कोई बात कह देता है। इसी प्रकार के उपदेशप्रद शब्दों को मम्मटाचार्य जी ने काव्य कहा है। क्योंकि इन का अर्थ वाच्य न रह कर व्यंग्य रहता है। श्रीतुकाराम जी के उपदेश पर अभंग भी इसी लिए काव्य माने जाते हैं। उन्हें पढ़ने वाला पाठक

जिस मनःस्थिति में होगा, उसी मनःस्थिति-विषयक आप का उपदेश उस के मन में दृढ़ जम जाता है और बिना कुछ परिश्रम किए उस का मन उस सदुपदेश को ग्रहण कर स्वयं अपने दोष दूर करने लग जाता है। आप का उपदेशरूपी अभंग-संग्रह धर्मार्थ औषधालय का-सा है। सौम्य से सौम्य औषधियों से ले कर तीव्र से तीव्र औषधियाँ या उपायों तक सब चीजें यहाँ विद्यमान हैं। इस औषधालय में एक और विशेषता यह है कि रोग और औषधि दोनों का पूरा-पूरा वर्णन उस औषधि के नीचे लिखा हुआ है। जिस मरीज़ को जो बीमारी हो, वह अपने रोग के मुआफ़िक दवा पहचान ले और उस का मज़े से सेवन करे। न कोई उसे रोकेगा, न कोई उस पर ज़बरदस्ती करेगा। इस लिए अब सामान्य स्वरूप के इन औषधिस्वरूप अभंगों का विचार करें ताकि पाठकों में से यदि किसी को इच्छा हुई तो अपना रोग पहचान उस की दवा का वह सेवन करे और नीरोग हो जावे।

यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है कि श्रीतुकाराम जी महाराज का खास उपदेश हरि-भक्ति का है। हरि से एकरूप होने पर भी जिसे इन्हों ने न छोड़ा, जिस के प्रेम में वे आमरण रँगे रहे, उस हरि-भक्ति का उपदेश न करना उन के लिए अशक्य ही था। आप का अटल सिद्धांत था कि जिसे नरदेह की प्राप्ति हुई हो, उस को हरि-भक्ति कर के नरदेह का साफल्य करना चाहिए। राजा हो या रंक, शूर हो या कायर, सिद्ध हो या साधक, ब्राह्मण हो या चांडाल हर एक को हरि-भक्ति का उपदेश आप ने एक ही सा किया है। नर-देह बार-बार नहीं मिलता। और किसी देह में मुक्त होना दुष्कर है। इस नरदेह में ही मुक्ति मिलना सुलभ है। कई जन्मों के बाद इस नरदेह की प्राप्ति होती है। पर इस प्राप्ति से मनुष्य फूला-फूला फिरता है। उस के मन में यह विचार स्पर्श तक नहीं कर पाता कि यह नरदेह अपने अधीन नहीं है। यह हमेशा अपने साथ एक ही स्वरूप में रहनेवाला नहीं है। जिन आँखों को उन की इच्छा के अनुसार बड़े-बड़े प्रयत्नों से अनेक दृश्य दिखाए, वे

आँखें हमें थोड़े ही दिन में छोड़ने का प्रयत्न करती हैं। जिन बालों को सुगंधित तेल लगा कर और गरम पानी से धो कर सँवारा, वे भी या तो अपना रूप बदलते हैं या हमारे पास से उड़ जाते हैं। जिस देह का पालन करने में हम दिन-रात परिश्रम करते हैं, वह भी हमारे सब कष्टों को ग्रहण कर अंत में नाना प्रकार के दुःखों से व्याप्त हो जाता है। अंत में काल की ओर देखा जावे, तो वह पल-पल गिनता हुआ आखिरी घड़ी साधने के लिए नजर लगा कर बैठा ही है। इस स्थिति में एक दूसरे की मौत देखते हुए भी मनुष्य निश्चिंत हो कर 'आज नहीं कल करूँगा' कहता हुए बैठ ही कैसे सकता है? इस लिए जब तक काल का हमला हुआ नहीं, तभी तक सब काम छोड़ कर आदर-पूर्वक श्रीहरि नाम लेना चाहिए और अक्षय सुख का भांडार भर कर, अपना हित साध लेना चाहिए। जब काल की झपट आवेगी, तब मा-बाप, भाई-बहन, स्त्री-पुत्र तुझे कोई भी छुड़ा न सकेगा। इस लिए जब तक सामर्थ्य है, जब तक इंद्रियों की शक्ति बनी हुई है, तभी तक उठो और शीघ्रता से श्रीपांडुरंग की शरण जाओ। तुम्हारे हाथ कुछ नहीं है। देनेवाला, दिलानेवाला, ले जाने और लिवा जानेवाला वही है। तुम तो केवल निमित्त मात्र हो। इस लिए नश्वर सुखों के हेतु शाश्वत ईश्वर-भक्ति को न छोड़ो। इस हरि-भक्ति के लिए किसी विशिष्ट अधिकार की आवश्यकता नहीं। तुम चाहे जिस जाति के हो, तुम्हारे हाथों कितने भी महापाप क्यों न हुए हों, केवल मुख से नाम-स्मरण करो तो सब कुछ हो सकता है। आप ने बड़ी अधिकारयुक्त वाणी से कहा है कि "लोगो, सुनो, अपने हित की बात गुनो, अपने मन से पंढरीनाथ का स्मरण करो। नारायण नाम गाते हुए फिर तुम्हें कुछ भी बंधन न रहेगा। भवसागर तो इसी तीर पर तुम्हारी दृष्टि से सूख जायगा। कलिकाल तुम्हारी सेवा करेगा। माया-जाल के सब फंदे छूट जावेंगे और ऋद्धि-सिद्धि तुम्हारी सेवा करने लगेंगी। सब शास्त्रों का सार यही है। सब वेदों का गुह्य यही है। सब पुराण भी इसी विचार का प्रति-

पादन करते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तो क्या चांडालों को भी नाम-स्मरण का अधिकार है। बच्चे, स्त्रियाँ, पुरुष, वेश्याओं को भी यहाँ मनाही नहीं। तुकाराम ने स्वयं इस का अनुभव किया है और जिस किसी की इच्छा हो वही इस का अनुभव कर सकता है।"

इस सुलभ-साधन का प्रचार करने के हेतु श्रीतुकाराम को बड़े कष्ट उठाने पड़े। इस सीधे-साधे रास्ते से जानेवाले लोगों के मार्ग में जो अनेक मत-मतांतरों के काँटे फैले पड़े थे, उन्हें दूर करना अत्यंत आवश्यक था। इन की खबर यदि तुकाराम अपनी ओजस्विनी वाणी से न लेते तो यह मार्ग इतना प्रचलित न होता। आप का तो मत ही था कि "यदि पीस कर आटा अच्छा बनाना हो तो अनाज में कंकड़ पहले बीन डालने चाहिए। खेत में उगी हुई घास जब तक न निकाली जाय तब तक खेत अच्छी तरह से नहीं बढ़ता है। अन्यथा सब काम बिगड़ जाता है और ज़रा से आलस के कारण आखिर में केवल 'हाय-हाय' ही बचती है।" इसी लिए आप ने मत-मतांतरों का खंडन किया। गाँजा पीने-वाले, मद्यपी, चेलों से वेष्टित, संत-महंतों की आप ने ख़ूब ही खबर ली है। ज़बरदस्ती उपदेश देनेवाले, दक्षिणा माँगने-वाले, विधवा स्त्रियों को ललचा कर उन के पास से द्रव्य छीननेवाले तमोगुणी, पेटपूजक महंत; प्याज़ खानेवाले और शूद्र स्त्री को रखेली बनानेवाले ब्राह्मण पुराण-पाठक; जटा बढ़ा कर अपने देह में भूत-पिशाचों का संचार करा कर भविष्य कथन करनेवाले साधु; बड़े-बड़े तिलक लगा कर और ढेरों माला गले में पहिन कर भजन करनेवाले वैरागी; गेरुए कपड़े पहने हुए संन्यासी; कान फाड़ कर भीख माँगने-वाले नाथपंथी; कौड़ी-कौड़ी के लिए सिर फोड़नेवाले और लोहे की ज़ंजीर और चमड़ा पहननेवाले मलंग; तिलक टोपी और सफ़ेद धोती पहने हुए श्राद्धांतप्रिय तीर्थवासी पंडे; भस्म लगा कर और गले में लिंग बाँध कर घंटा और शंख बजानेवाले जंगम; इन सबों की पोल श्रीतुका-राम जी ने अपने अभंगों में खोल दी है। इन में से कुछ तो लोगों से

मान-सम्मान पाने के लिए कोर-कोर कर तिलक लगाते थे, कुछ बदन पर भभूत रमा कर आँखों को मूँद पापाचरण करते थे, अन्य वैराग्य के नाम से यथेच्छ विषयोपभोग करते थे और दूसरे छाछ अपने शिष्यों को पिला कर समर्पित दूध सामने आते ही 'नारायण' कह उस को प्रेम-पूर्वक स्वीकार करते थे। कुछ लोग शरीर में देवताओं का संचार करा कर लोगों को भुलाते थे। इन के विषय में तुकाराम जी पूछते "यदि देव इन के अधीन होता तो ये भीख क्यों माँगते, और इन के बाल-बच्चे क्यों मरते?" इन्हीं के साथ ब्रह्म-ज्ञान की बातें कह कर भक्ति का उच्छेद करनेवालों पर भी श्रीतुकाराम जी ने अच्छी फटकारें लगाई हैं। ब्रह्म-ज्ञान कहने की बात नहीं है अनुभव करने की है। मुख से ब्रह्म-ज्ञान की बात कहें मन में धन की तथा मान की अभिलाषा धरें। ऐसे लोगों के विषय में तो आप ने यह कहने में भी कसर न रक्खी कि धिक्कार है इन लोगों को जो केवल अपनी वाणी को कष्ट दे कर लोगों से तो ब्रह्मज्ञान की बातें करते हैं और स्वयं अनाचार करते हैं। आप प्रश्न किया करते थे कि यदि सब ब्रह्म स्वरूप है और बिन ब्रह्म के एक भी स्थान खाली नहीं है तो देवता की मूर्त्ति में ही ब्रह्म क्यों नहीं है?" पर जिस के मन में भाव नहीं उसे कहाँ तक समझाया जावे। ऐसे सब लोगों से आप का साफ़-साफ़ कहना था कि "धतूरा पिला कर लोगों को न लूटो। अपनी इंद्रियों पर विजय पाकर पहले उन्हें अपने काबू में लाओ। निश्चय से चलो, जैसा बोलो वैसा करो, पेट भरने की विद्या और परमार्थ की गटपट न करो और आत्मवंचना कर लोगों को न भुलाओ। निष्काम-भजन से हरि-प्राप्ति कर लो और फिर उस के गुणानुवाद गाते ही रहो। ज्ञान का ढोंग न फैलाओ, सगुण-भक्ति का सेवन करो और जब तक तद्द्वारा सिद्धि प्राप्त न हो अद्वैत की बातें न करो। इस प्रकार ख़ुद तरो और दूसरों को तारो।" कभी सौम्य और कभी कठोरभाषा में इन सब लोगों को श्रीतुकाराम जी महाराज इसी आशय का उपदेश करते थे।

दंभ पर आप की बड़ी कड़ी नज़र थी। यह पहले कहा गया है कि व्यक्तिगत विषय में आप थोड़े से दंभ के पक्ष में थे। परंतु मन में राम न रहते हुए भी राम-नाम की माला एकांत में फेरने के योग्य ही दंभ आप चाहते थे। क्यों कि आप की दृढ़ श्रद्धा थी कि ऐसा करने से धीरे-धीरे चित्त शुद्ध होता है। पर साथ ही दंभाचार कर लोगों को फँसानेवाले दांभिकों पर आप का बड़ा क्रोध था। इसी लिये जहाँ-कहीं दांभिक लोग आप के देखने में आते, उन पर आप बराबर अपना टीकास्त्र चलाते। बाहर का स्वांग बना कर लोगों की आँखों में धूल फेंकने वालों का आप ख़ूब क़लई खोलते। आप कहते "भगवे रंग के कपड़ों से ही यदि आत्मानुभव आता तो सभी कुत्ते आत्मानुभवी हो जाते, क्यों कि उन्हें तो भगवा रंग ईश्वर ने ही दिया है। जटा-दाढ़ी बढ़ाने से ईश्वर मिलता तो सभी सियार ईश्वर को प्राप्त कर लेते। ज़मीन खोद भीतर रहने से यदि मुक्ति मिलती तो सभी चूहे मुक्त हो जाते। इस लिए तुकाराम का मत है कि ऐसे बाहरी रूप बना कर शरीर को पीड़ा व्यर्थ में न देनी चाहिए।" छुआ-छूत का दंभ करने वालों से आप का सवाल रहता कि "बाहर धोने से क्या फ़ायदा— जब तक अंतर मैला है? पाप से भरे देह का विचार न कर के जो भूमि सदैव पवित्र है उसे शुद्ध करने से क्या लाभ?" अगर शुद्धि चाहते हो, तो काम-क्रोधादिकों का संसर्ग टाल कर शुद्ध होना चाहिये। अगर मनुष्य अपना हित चाहता है तो उसे दंभ को दूर करना चाहिए, चित्त शुद्ध करना चाहिए और एकांत में बैठ श्रीविट्ठल का नाम लेना चाहिए। ऐसा करने ही से गोपाल जी हृदय में आ बैठेंगे और कष्ट के फल प्राप्त होंगे। आप शुद्ध मन के बड़े प्रेमी थे। जब तक हमारा मन शुद्ध न हो तब तक दूसरों पर हँसने का हमें अधिकार ही क्या? एक अशुद्ध-चित्त के पुरुष का दूसरे अशुद्ध-चित्त पर हँसना ऐसा ही है मानों दोनों आँखों में मोतीबिंदु रखनेवाला पुरुष किसी काने की ओर देख कर हँसे। आँखों में जैसे अणुमात्र भी धूलकण नहीं सहा जाता

वैसे ही चित्त में ज़रा-सी भी अशुद्धता न रखनी चाहिए। मनुष्यों को चित्तशुद्धि के विषय में कोई फँसा सके तो सके पर सर्वांतर्यामी ईश्वर को इस विषय में भुलावा देना संभव नहीं। शुद्ध होते ही चित्त स्थिर होता है और फिर इष्ट विषय पर जम जाता है। जिस का चित्त स्थिर नहीं वह तो पागल कुत्ते का-सा इधर-उधर चारों ओर घूमता फिरता है। ऐसे अस्थिर चित्त को न काशी से लाभ न गंगा से। मन चंगा न रखनेवाले लोग गंगा जी में भी वैसे ही अपवित्र बने रहेंगे। जैसे उबलते पानी में भी कुरे दाने गलते नहीं, वही हालत इन अस्थिर चित्त लोगों की है। चित्त-शुद्धि न हो वहाँ उपदेश से क्या लाभ ! इस विषय में आप ने कई दृष्टांत दिए हैं। आप कहते हैं "अगर पानी ही साफ़ न हो, तो साबुन से क्या फ़ायदा ? वंध्या स्त्री को संतान न हो, तो पति का क्या दोष ? नपुंसक को स्त्री से भी सुख क्या ? प्राण चले जाने पर शरीर किस काम का ? बिना पानी के खेती कैसे हो ?" दुष्ट-चित्त पुरुष दुनिया भर को दुष्ट ही समझता है। दुराचारी पुरुष का अपने साले पर भी विश्वास नहीं जमता। चोर को सब संसार चोर ही मालूम पड़ता है। इस लिए चित्त को शुद्ध और दृढ़ रखना चाहिए। यह सहल नहीं है, पर इसे साध्य किए बिना काम नहीं चलता। टाँकियों के घाव सह कर ही पत्थर ईश्वर-प्रतिमा का स्वरूप पाता है। जो शूर पुरुष बाण, शस्त्र, गोली खाता है, उसी की कीर्ति बढ़ती है। जो आग का डर भूल जाती है, वही स्त्री सती-पद को प्राप्त होती है। इसी प्रकार जिसे इष्ट-साधना करनी हो, उसे चित्त शुद्ध और दृढ़ कर के इष्ट विषय में लगाना चाहिए।

चित्त शुद्ध करने के लिए उसे अशुद्ध करनेवाली बातों से बचाना चाहिए। चित्त को लुभा कर इधर-उधर भड़कानेवाले विषय—विशेषतः द्रव्य और स्त्री को टालना चाहिए। विषयासक्ति को श्रीमद्भगवद्गीता में भी सर्व दुखों का मूल बताया है। इसी से संग, काम, क्रोध, सम्मोह स्मृति-भ्रंश, बुद्धिनाश और अंत में सर्वनाश होता है। इन विघ्नों के

लोभ से ही ज्ञानी पुरुष पशुवत् आचरण करते हैं। लोभ में लोभ रखने से आत्मा में क्षोभ उत्पन्न होता है। विषयलोलुप लोगों की जहाँ देखो वहाँ फ़जीहत ही होती है। सेवन करते समय तो ये विषय मीठे लगते हैं पर इन के फल कड़ुए से कड़ुए होते हैं। इन चित्त-विक्षोभक विषयों में आप ने दो को प्राधान्य दिया है। एक कनक और एक कामिनी। कनक शब्द में सभी इष्ट पदार्थों की व्याप्ति है, जो द्रव्य से मिल सकते हों। इस लोभ से मनुष्य की कृपणता बेहद बढ़ जाती है। इसी से वह अन्य सब काम छोड़ देता है और केवल कृपणता में ही आसक्त रहता है। इस बात का आप ने एक बड़ा मनोरंजक दृष्टांत दिया है। एक स्त्री एक समय पंढरपुर जाने के लिए निकली। वारकरी लोगों के साथ शहर के दरवाज़े तक जा कर उसे कुछ याद आई और घर में आ कर बहू से कहने लगी "अरी बहू, सुन। मैं तो जाती हूँ, पर घर का दूध-दही न ख़र्च कर डालना। दही का जो छोटा उबला मैं ने जमा रक्खा है उस का दही मेरे वापस आने तक न निकालना। सिल-लोढ़ा, ऊखल-मूसल सब सँभाल रखना। कोई ब्राह्मण घर आवे, तो उस से कहना घर के लोग पंढरपुर गए हैं। थोड़ा-थोड़ा ही खाना ताकि घर में के चावल खतम न हों।" बहू ने सब कुछ सुन लिया और जवाब दिया, "आप का कहना सब ध्यान में है। आप सुख से यात्रा कीजिए और घर की फ़िक्र कुछ न कीजिए।" बहू की यह सादी बात भी सुन बुढ़िया विचार करने लगी, "यह सौत तो यहीं चादेगी। इस लिए अब पंढरपुर न जाऊँगी। यहीं रहूँगी।" विचार कर आखिर बोली—

बाल बच्चे, घर दार। यही मेरा पंढरपुर।
अब पंढरी न जाऊँ। सुख मान घर रहूँ॥

ऐसे सब लोगों को तुकाराम जी का उपदेश है कि "करोड़ों रुपए पाओ पर ध्यान रहे इस बात का कि साथ लँगोटी भी न जावेगी। चाहे जितने पान खाओ, आखिर सूखे मुख से ही जाना पड़ेगा। पलंग,

गद्दा, तकियों पर मज़े से लेटो, पर अंत में लकड़ी कंडों के ही साथ सोना है। इसी लिए तुकाराम कहता है कि इन सबों का त्याग कर एक राम की ही चिंता करो।" परधन और परनारी के विषय में आप ने कहा है कि "अगर कोई साधना करना चाहे तो दो ही साधन बस हैं। परधन और परनारी को वह कभी न छूए।" स्त्रियों के विषय में आप का स्वयं बड़ा कटु अनुभव था। इसी कारण आप ने बड़े कड़े शब्दों में स्त्रियों की निंदा की है।

चित्त-विक्षोभक तथा चित्त को अनाचार में प्रवृत्त करनेवाली बातों के वर्णन में आप ने तत्कालीन हीन समाज-स्थिति का यथार्थ चित्र खींचा है। उस समय वेद-पाठक ब्राह्मण मद्य-सेवन करते थे, उन्हों ने अपना आचार छोड़ दिया था, वे हरि-कथा सुनने में हीनत्व समझते थे और व्रत, तप आदि कुछ न कर केवल पेट का पूजन करते थे। वे चोरी और चुग़ुलखोरी करते थे। चंदन यज्ञोपवीतादि ब्राह्मणों के चिन्ह छिपा कर मुसलमानी लिबास पहनते थे। मुदबक़ख़ाने का हिसाब लिख कर और तेल, घी इत्यादि रस बेच कर उपजीविका करते थे। ब्राह्मण इस प्रकार नीच के भी नौकर हो चुके थे। राजा लोग प्रजा को पीड़ा देते थे। जब ये दो मुख्य वर्ण अपना-अपना कर्तव्य छोड़ चुके थे, तब वैश्यादिकों से और क्या अपेक्षा की जाती? लोग गायें और बेटियाँ बेचते थे। बेटी बेचने के विषय में तुकाराम ने लोगों की ख़ूब ही निंदा की है। जो कोई गाय बेचता, कन्या के बदले धन को स्वीकार करता तथा हरिकथा कह के पैसे कमाता वह आप के मत से चांडाल-सदृश होता। ये लोग यह नहीं जानते थे कि कन्यादान का पुण्य पृथ्वीदान के समान है। ऐसे पुण्यकारक कन्यादान के आगे कन्या-विक्रय करने वालों के पाप की गणना कहाँ तक की जाय? कुछ लोग संत-सज्जनों का आदर करने के बजाय मुसलमानों के देवों को पूजते थे। पेट के मारे लोगों की यह हीन-दीन स्थिति हो रही थी कि चाँडालों के घर से भी खिचड़ी माँग खाते थे। लोगों की बुद्धि ऐसी भ्रष्ट हो गई थी कि

महारमांग इत्यादि अस्पृश्य जाति की स्त्रियों से संबंध रखते। गाय को मारते और घोड़ों की सेवा करते। वेश्याओं को वस्त्रादि उपहार देते और ग़रीब लोगों को धक्के मार कर निकालते। हरिकीर्तन में जाने के लिए उन्हें समय न मिलता पर घंटों ही चौपड़ खेलने में गँवाते, स्त्री-संबंधी जनों को घर में खूब खिलाते, पर मां-बाप को घर के बाहर निकाल देते। साधुओं को चुल्लू भर पानी न देते पर रखेली के न्हाने के लिए पानी खींच देते। हरिदासों के पैर कभी न छूते, पर वेश्याओं की चोलियाँ भी धोते। ब्राह्मणों को नमस्कार न करते, पर तुर्की औरतों को मां से भी अधिक मानते। देव-दर्शन को न जाते पर चौराहों पर बड़े ठाट-बाट से अड़ बैठते। स्नान-संध्या या राम-राम न कहते पर बड़ी चाव से गुड़-गुड़ आवाज़ निकालते हुए हुक्का पीते। अपना सब जीवन स्त्री के अधीन करते और उस का मन रखने के लिए घर के लोगों से विभक्त हो अलग रहते। यह सब परिस्थिति देख कर तुका-राम जी के हृदय में बल पड़ जाता और आप के मुख से पुकार निकल उठती कि 'नाथ, क्या आप सो रहे हो? अब तो उठ दौड़ो और भारत को बचाओ।'

अनाचार में प्रवृत्त करनेवाले विषयों का ज्ञान होने पर भी उन्हें टालना और मन को सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करना आसान नहीं है। मनुष्य अनेक बार अपने मन को बुरी बातों की ओर से परावृत्त करता है, पर वह हठी बालक-सा फिर-फिर उसी की ओर दौड़ा जाता है और इस कारण मनुष्य कई बार अपनी उन्नति के विषय में निराश हो जाता है। ऐसे निराश जीवों को तुकाराम जी का उपदेश फिर से आशायुक्त कर देता है। आप के कई अभंगों में ऐसी वीरश्री भरी हुई है कि कायरों के हाथ भी फुरफुराने लगते हैं। मरे से मरे दिल में भी कई अभंग जान डाल देते हैं। आप का कथन है कि मनुष्य को धीरे-धीरे मन को जीतना चाहिए। सब से पहले कुछ न कुछ नियम कर के उसे नित्य पालना चाहिए। जो कोई नित्य-नियम के बिना अन्न-सेवन करता है उस का

जीवन आप के मत से कुत्ते का-सा है। कुछ न कुछ ध्येय मनुष्य अपने सामने न रक्खे तो उस का जीवन लज्जास्पद ही है। मनुष्य को उद्योग-संतत उद्योग— करना चाहिए। किया हुआ ही प्रयत्न फिर-फिर से करना चाहिए। मंथन करने के बाद ही मक्खन हाथ आता है, पहले नहीं। इस लिए अच्छा काम बार-बार करना चाहिए। पौधा जब तक जमीन में अच्छी तरह जमा नहीं तब तक उसे पुनः पुनः सींचने की आवश्यकता रहती है। एक बार यदि वह सूख जावे तो फिर उस में कोंपले आने की आशा नहीं रहती। टाँकी की चोटें खाते-खाते जो पत्थर बचता है वही देव-स्वरूप को पहुँचता है और जो फूट जाता है वह पायखाने में लगाया जाता है। मुश्किल पहले-पहल ही पड़ती है। मक्खन में जब तक मैल रहता है तभी तक वह कड़कड़ाता है और उफान खाता है; मैल जल जाने के बाद वह स्वयमेव शांत हो जाता है। अगर फ़ायदा चाहो तो मुफ़्त में नहीं मिलता। जो कोई हथेली पर सिर रख कर लड़ाई में लड़ता है उसे ही विजय मिलती है। ऐसे कामों में उतावली किसी काम की नहीं। पानी की चाल से धीरे-धीरे ही चलना चाहिए। जो बीज ज़मीन में गहरा बोया जाता है वही अच्छा आता है। ऊपर-ऊपर बिखरा हुआ बीज चिड़ियाँ चुग जाती हैं। जो सोना कसौटी पर कसा जाता है और आग में परखा जाता है वही क़ीमत में चढ़ता है। अगर गेहूँ के आटे की रोटी अच्छी बनाना हो, तो उसे तो ख़ूब गूँथना पड़ता है। इसी प्रकार मन को भी बार-बार गूँथना चाहिए। रोज़ के रोज़ कुछ न कुछ करना चाहिए। सूखी बातों से ही काम नहीं चलता। धीरज रक्खो तो भगवान् अवश्य सहायता देते हैं। शांति-पूर्वक धीरज से अभ्यास करो तो असाध्य बातें भी सुसाध्य हो जाती हैं। अभ्यास सब कामों को आसान कर देता है। सूत की रस्सी भी रोज़ आते-जाते पत्थर को काट डालती है। इस लिए मनुष्य को उतावली छोड़, धीरज रख कर, उत्साह-पूर्वक एक-सा उद्योग करना चाहिए। ऐसा उद्योग करने पर ईश्वर दूर नहीं।

दृढ़ निश्चय के कारण जैसे-जैसे मन काबू में आता है, वैसे-वैसे आशा, ममता, इत्यादिकों का नाश होता है और क्षमा, नम्रता, सत्य, शांति, दया, निर्वैर इत्यादि गुणों का उत्कर्ष होता जाता है। यदि ईश्वर-योग की इच्छा हो, तो सांसारिक सुखों की आशा मन से प्रथम नष्ट होनी चाहिए। आशा के कारण न उपदेशक साफ़-साफ़ बोलता है न श्रोता यथार्थतया सुनता है। अर्थात् एक गूंगा और दूसरा बहरा बनता है और दोनों के समागम से कुछ भी लाभ न हो कर दोनों कोरे के कोरे रह जाते हैं। पक्षांतर में जिस ने आस छोड़ दी, उस का ईश्वर भी दास होता है। सत्ता-पूर्वक ईश्वर को अपना सेवक बनाना हो, तो आशा को प्रथम छोड़ दो। ईश्वर भी जिस पर कृपा करता है, उस की आशा अपहरण कर लेता है। भक्त के आशा-पाशों को वह प्रथम ही तोड़ डालता है। खुद के सिवा दूसरे किसी को भक्त का आधार वह रहने ही नहीं देता। आशा, तृष्णा, माया, अपमान के बीज हैं और भक्त के विषय में ईश्वर इन्हें पहले ही नष्ट कर देता है। अतएव यदि अपनी आशा, ममता इत्यादिकों के स्थान नष्ट हो जावें, तो मनुष्य को वह ईश्वर का अनुग्रह ही समझना चाहिए। ईश्वर-प्राप्ति के आड़ आनेवाली बातें तथा व्यक्ति, सबों का त्याग करने का तुकाराम जी ने सोदाहरण उपदेश किया है। प्रह्लाद ने पिता, भरत ने माता, विभीषण ने भाई का त्याग ईश्वर के लिए ही किया। वैसे ही ईश्वर के आड़ आने वाले पुत्र-पत्नी इत्यादिकों को भी छोड़ना चाहिए। अपने ध्येय के हेतु संसार की आशाएँ छोड़नी ही पड़ती हैं। संसार प्रवृत्तिपर और ध्येय निवृत्तिपर होने से दोनों का साथ जम ही नहीं सकता। जब आशा, ममता, तृष्णा चित्त से नष्ट हो जाती हैं, उन का स्थान दया, शांति, क्षमा ले लेती है। क्रोध का मूल काम ही जहाँ न रहे, वहाँ शांति के अतिरिक्त और क्या रह सकता है? इन्हीं गुणों के साथ मन में समाधान-वृत्ति उत्पन्न होती है। मन की अशांति से चंदन भी शरीर में अग्नि की-सी जलन पैदा करता है और मन की शांति

होने पर मनुष्य सुख से विष भी पी सकता है। शांति, क्षमा, दया ही मनुष्य के सच्चे अलंकार हैं। इन की प्राप्ति जब तक न हो, तब तक मनुष्य सुखी नहीं हो सकता। इन्हीं गुणों के साथ भूतों के प्रति निर्वैर उत्पन्न होता है और जो परिस्थिति प्राप्त हो, उसी में मनुष्य सुखी रह सकता है। फिर वह "पानी भरे या पलंग पर सोवे, उम्दा से उम्दा खाना खाने या सूखी रोटी के टुकड़े चबावे, घोड़ा-गाड़ी पर चढ़े या पैर में जूता भी न पहन कर चले, अच्छे-अच्छे कपड़े पहने या फटे-पुराने चीथड़ों से शरीर ढाँके, संपत्ति में रहे या विपत्ति में फँसे, और क्या उस का सज्जनों से समागम हो या दुर्जनों से, उसे सुख-दुख एक सा ही जान पड़ता है, और जो समय प्राप्त होता है, उसी के अनुकूल वह बड़ी ख़ुशी से दिन काटता है।" इसी लिए तुकाराम जी का उपदेश है कि जो स्थिति प्राप्त हो उसी में सुख से रहो। किसी बात की या पेट भरने की भी चिंता न करो। अन्न-वस्त्र के लिए किसी को याचना न करो। नर-स्तुति तो मुख से कभी न निकालो। ईश्वर पर सब भार डालो और कर्तव्य करते हुए सुख से रहो।

श्रीतुकाराम जी महाराज के सदुपदेश का अत्यंत संक्षेप में यह सार दिखलाया है। आप के श्रोतागणों में सभी प्रकार के लोग समाविष्ट थे। गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक, स्वधर्म-संस्थापक, स्वराज्य-प्रवर्तक श्रीशिवाजी महाराज के-से वीर पुरुष, वेदशास्त्र-संपन्न सदाचारी रामेश्वर भट्ट जी से सत्यशील ब्राह्मण, मुसलमानों के शासन में बड़े-बड़े ओहदों पर काम करनेवाले हिंदू अधिकारी, अपना सर्वस्व श्रीविठ्ठल-चरणों पर समर्पित कर पंढरीश श्रीपांडुरंग के भजन में रँगे हुए वारकरी, परमेश्वर के कृपापात्र चिंचवड़कर देव से प्रसिद्ध महंत, कुत्ते की दुम-से अपनी वक्रता न छोड़नेवाले और सदोदित कष्ट देनेवाले मंबाजी ऐसे स्वभाव-दुर्जन, पति के साथ सुख से संसार करनेवाली बहिणाबाई-सी भक्त स्त्री तथा सांसारिक दुःखों से त्रस्त हो कर तुकोबा को ही भला-बुरा सुनानेवाली जिजाई-सी पत्नी, सबों को श्रीतुकाराम महाराज जी

ने खुल्लम-खुल्ला उपदेश दिया है। ध्यान में रखने योग्य बात यह है कि आप ने किसी को अपना शिष्य न बनाया और उसे किसी प्रकार का गुह्य उपदेश नहीं किया। किसी को अपना शिष्य बनाने के आप पूर्ण विरोधी थे। आप का मत था कि साधु पुरुष को मेघवृष्टि न्याय से उपदेश करना चाहिए, पर किसी को अपना शिष्य न बनाना चाहिए। आप के उपदेशामृत से सब प्रकार के लोगों ने यथाधिकार लाभ उठाया और कृतार्थता प्राप्त की। आप का उपदेश हमेशा सूत्र-रूप से होता था। उस में केवल मुख्य-मुख्य तत्त्व बतलाए जाते थे। छोटी-मोटी गौण बातों की ओर आप ध्यान न देते थे। मोह-निद्रा में से जड़-जीवों को जाग्रत करना ही साधु-संतों का कर्त्तव्य होता है। इस विषय में कि जागने पर हर एक व्यक्ति को क्या करना चाहिए, संत लोग प्रायः चुप रहते हैं। वे जानते हैं कि इस विविध संसार में व्यक्ति-विषयक उपदेश करना अनावश्यक और अशक्य है। इस लिए श्रीतुकाराम जी महाराज से साधु पुरुष केवल जीवों की माया-निद्रा उठा देते हैं, धर्म और भक्ति के बीज उन के हृदय में बोते हैं, कर्त्तव्य-कर्म की ओर उन्हें प्रवृत्त करते हैं, ज्ञान-वैराग्यादि का उपदेश दे कर देह-बुद्धि का नाश करते हैं और सामान्य नरों को भी नारायण-स्वरूप होने की करनी सिखाते हैं। जिस प्रकार मनुष्य दर्पण में अपना रूप देखता है और बिना किसी के बतलाए जान जाता है कि उस के रूप में गुण-दोष क्या हैं, उसी प्रकार आप के अभंगों का पाठ करते-करते पाठक अपना-अपना रूप देखते हैं, और अपने-अपने गुण-दोष पहिचान दोषों को दूर कर गुणों की वृद्धि करने में तत्पर हो जाते हैं। आज तक हज़ारों जीव आप के उपदेशामृत का पान कर भवरोग से मुक्त हो चुके हैं, और न मालूम भविष्य-काल में कितने और जीव इसी उपदेश-वृष्टि से अपने संसारतप्त-जीवों को शीतल करेंगे। ऐसे उपकारी पुरुष के गुण कहाँ तक कोई गा सकता है। अत एव इस झगड़े में न पड़ कर इस परिच्छेद को यहीं समाप्त करें।

त्रयोदश परिच्छेद : संत-महात्मा

श्रीतुकाराम जी महाराज के अभंगों का एक बड़ा भारी विभाग संत-सज्जनों के वर्णन से भरा हुआ है। अपने जीवन में आप को विशेषतः दुर्जनों से ही काम पड़ा। यही कारण है कि सज्जनों का गौरव आप ने इतने महत्व का जाना। दुःखों की आँच से झुलसने के बाद ही सुख की शीतल वायु का आस्वाद अधिक शांति-प्रद मालूम पड़ता है। आप के मतानुसार दुर्जन वही है जो ईश्वर से स्वयं विमुख रहे और दूसरों को भी विमुख करे। इस व्याख्या को मान कर तो यही कहना पड़ेगा कि घर की स्त्री से ले कर बाहर के मंबाजी बाबा तक सब प्रकार के दुर्जनों से आप को जन्म भर झगड़ना ही पड़ा। अतएव दुर्जनों के सब प्रकार आप को विदित थे। और यही कारण है कि आप के कामों का यथार्थ स्वरूप पहचान कर आप को भगवद्भक्ति के विषय में अधिकाधिक प्रेरित करनेवाला हर एक पुरुष आप को बड़ा भारी सज्जन-सा जान पड़ता था। इस परिच्छेद में हमें यही देखना है कि तुकाराम जी ने सज्जन-दुर्जनों के विषय में क्या लिखा है

श्रीतुकाराम जी महाराज जिन लोगों से प्रेम करते थे उन्हें हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। इन में प्रथम वर्ग है हरिदास या वैष्णव लोगों का। माथे पर ऊर्ध्व-पुंड्र लगा है, गले में तुलसी की माला पड़ी हुई है, शंख-चक्रों की मुद्राएँ लगी हैं, यह तो इन वैष्णवों का बाह्य रंग था। पर केवल इस ऊपर के ठाट-बाट से वैष्णव नहीं होता है। जिन लोगों को नारायण स्वजन-सा जान पड़ता हो; भूख, प्यास सब भूल कर जो श्रीहरि का नाम-स्मरण एक-सा करते हों; बैठते, सोते, चलते, फिरते जिन का चित्त ईश्वर की ओर ही लगा हो, श्रीहरि स्मरण की अपेक्षा जो पृथ्वी का राज्य ही नहीं, इंद्र का पद भी तुच्छ मानते हों; योगसिद्धि की जो बिल्कुल क़ीमत न करते हों, और तो क्या श्रीहरि के बिना

मिलने वाले मोक्ष को भी जो तृणवत् समझते हों, तुकाराम के मत से वे ही वैष्णव थे। यह तो हुआ ईश्वर-विषयक प्रेम। इसी प्रेम के कारण वैष्णवों का धीरज कभी न छूटता था। किसी विपत्ति में वे अपने व्रत से न टलते थे। इसी दृढ़ विष्णुभक्ति के कारण विष्णुदास के भगवद्भक्त हो जाते थे। इन भगवद्भक्तों का समावेश दूसरे वर्ग में किया गया है।

इन भगवद्भक्तों का वर्णन करते समय तुकाराम जी कहते हैं, "वे ही भगवद्भक्त हैं, जो अपने शरीर के विषय में बिल्कुल उदास हो गए, आशा-पाशों को जिन्हों ने बिल्कुल दूर कर दिया, जिन का सब विषय नारायण ही हो गया; यहाँ तक कि धन, मान, माता-पिता भी जिन्हें न भाए। ऐसे ही भक्तों के आगे-पीछे, चारों ओर नारायण रहता है और सब प्रकार के संकटों से उन्हें बचाता है। ये सत्य की हमेशा मदद करते हैं और असत्य से ऐसे डरते हैं, मानो नरक को जाना हो।" ऐसे ही लोग भक्ति-सुख से मस्त हो कलि-काल से भी निडर हो जाते हैं। इन के हाथों में हरि-नाम का बाण रहता है, मुख में विट्ठल-नाम की गर्जना रहती है, किसी की परवाह इन्हें नहीं रहती, दोष भी इन से डर कर भागते हैं और मोक्ष तक की सब सिद्धियाँ इन के दरवाज़े पर टहलती रहती हैं।

विष्णु-भक्ति के बाह्य-चिह्न जिन के पास दृश्यमान हैं, जिन्हों ने भक्ति करना आरंभ कर दिया है, वे वैष्णव हैं। इन्हीं लोगों के मन में जब विष्णु-भक्ति दृढ़-मूल हो जाती है, तब वे इन बाह्य-चिह्नों की इतनी परवाह नहीं करते। उन का ध्यान, उन का अंतःकरण, परमेश्वर की ओर लगा रहता है और इस स्थिति में वे भगवद्भक्त कहलाते हैं। पर यह भी श्रीतुकाराम जी महाराज के मतानुसार पूर्णावस्था नहीं है। शरीर, वाणी तथा मन तीनों परमेश्वर-परायण होने से ही सिद्धि नहीं होती। सिद्ध लोगों की दशा भगवद्भक्तों से भी ऊँची है। उस अवस्था को प्राप्त होने के लिए भक्ति का सत्य स्वरूप समझना चाहिए। श्रीतुकाराम जी के मत से भक्ति का स्वरूप है 'जनीं जनार्दन।' अर्थात् अखिल

जगत् में जनार्दन स्वरूप देखना। यह ज्ञान होते ही अज्ञावस्था में जो भावना ईश्वर-विषयक रहती है, वह नष्ट हो जाती है। उस अवस्था में तो यह कल्पना रहती है कि परमात्मा वही है, जिसे हम राम, कृष्ण, विट्ठल शिव, विष्णु इत्यादि नामों से पुकारते हैं। पर इस पूर्णावस्था में यह ज्ञान हो जाता है कि परमात्मा का स्वरूप किसी विशिष्ट नाम-रूप से मर्यादित नहीं है, प्रत्युत संसार के हर एक नाम-रूप में भरा हुआ है। इतना ही नहीं सब ब्रह्मांड को व्याप्त कर के भी वह बचा ही है। यह भावना दृढ़ होते ही वही भगवद्भक्त अब जगत् के दुःख से दुखी है। उस के सब प्रयत्न संसार को सुखी करने के लिए होते हैं। उस की सब क्रियाओं का एक ही हेतु रहता है—दुनिया का फ़ायदा कैसे हो। इस अवस्था में तुकाराम उसे संत या साधु या सज्जन कहते हैं।

इन्हीं संतों का वर्णन श्रीतुकाराम जी ने बड़ी भक्ति से किया है। आप कहते हैं "सचमुच जिस का यह अनुभव है कि संसार ही देव है, उसी के पास ईश्वर है और उसी के दर्शन से पाप का नाश होता है। भूत-मात्र के विषय में सम-बुद्धि रखने के कारण न उस के पास काम आता है और न क्रोध। किसी प्रकार का भेद-भाव उस के चित्त में रहता ही नहीं। भेदाभेद की सब बातें वहाँ समाप्त हो कर निरस्त हो जाती हैं।" संतों का जीवन केवल लोककल्याण ही के लिए है। लोगों का भला करने में ही वे अपनी देह लगाते हैं। भूतों पर दया करना ही उन का मूलधन है। अपने शरीर पर तो उन का ममत्व रहता ही नहीं। श्रीतुकाराम जी महाराज का कथन है कि दुखी लोगों को जो अपनाता है वही साधु है। देव वहीं पर है। सज्जनों का चित्त तो भीतर-बाहर एक, और मक्खन-सा मृदु रहता है। जिसे कोई सँभालने वाला नहीं उसे साधु अपने गले लगाता है। पुत्र की ओर जो दया दिखलाई जाती है, साधु-पुरुष अपने नौकर-नौकरानियों पर भी वही दया दिखलाता है। वही साधु है। और तो क्या प्रत्यक्ष भगवान की मूर्ति वही है। अन्यत्र आप ने कहा है कि जो जगत् के आघातों को सहता

है वही संत है। संतों के पास अवगुण की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। जैसे चंदन मूल से ले कर अग्र तक सुगंधित ही रहता है, पारस का कोई भी अंग सुवर्ण बनाने के गुण से हीन नहीं रहता, अथवा शक्कर सब की सब मीठी ही रहती है, उसी प्रकार खोज करने पर भी संतों के पास अवगुण नहीं मिलते। और एक अभंग में आप ने वर्णन किया है कि जिसे उस ब्रह्म का ज्ञान है जो सर्वगत और सर्वत्र एक रूप है, वही साधु है। उस के पास अन्यत्व या वैषम्य की भावना ही नहीं है। भक्ति ही उस का मूल कारण है। समबुद्धि और नास्तिकता का अभाव उस में रहता है। भूतों के विषय में जो दया उस के मन में जागती है उस के कारण द्वेष की जड़ वहाँ जमने नहीं पाती। वही दया शत्रु, मित्र, पुत्र, बंधु सबों को एक ही स्वरूप से देखती है। उस का मन, बुद्धि, काया, वाचा चारों शुद्ध रहती हैं। जहाँ देखो वहाँ परमेश्वर स्वरूप देख कर वह सर्वत्र लीनता धारण करता है, सब प्रकार से अपने को छोटा मानता है। वह 'मैं' और 'तू' के भाव से अपरिचित हो जाता है। अर्थ, काम, मान, अपमान, मोह इत्यादि बातों की वह चिंता भूल जाता है। सब समझ कर भी वह अनजान सा पूर्ण समाधान में रहता है। उस का ईश्वर पर दृढ़ विश्वास होता है। कोई भी काम करने या न करने का हठ वह नहीं करता और ज्ञान से कँदरा कर बच्चे की नाईं दुनिया में वास करता है। बस वही साधु है।

साधु-संत कैसे होते हैं इसी के वर्णन के साथ वे कैसे नहीं होते इस का भी आप ने बड़ा अच्छा विवरण दिया है। कवित्व करने से संत नहीं बनते हैं, या किसी दूसरे किसी संत के भाई-बंद भी संत नहीं हो सकते। हाथ में तुंबा लेने से या पीठ पर गूदड़ी ओढ़ने से संत नहीं बनते। संत होने के लिए न पुराण बाँचने की आवश्यकता है, न कीर्तन करने की। न वेद-पाठ की न कर्माचार की ज़रूरत है। तप, तीर्थ-भ्रमण, वनवास, किसी से भी कोई संत नहीं होता। संत को न माला पहननी पड़ती है, न मुद्रा लगानी, न विभूति रमानी। खाली

संत कहलाने से संत नहीं होते। यहाँ तो असली परीक्षा देनी पड़ती है। जब तक मन का संदेह न मिटा तब तक कोई संत नहीं है। तुकाराम के मत से वे सब सांसारिक हैं। संतों का मुख्य लक्षण लीनता है, अभिमान नहीं। वहाँ तो न ज्ञान का गर्व है, न कर्म का, न जाति का। संत बनने के लिए बोलने की आवश्यकता नहीं। वहाँ तो काम कर के दिखाना पड़ता है। जो स्वयं कर के बतलाता है, वही साधु है। कोरी बातें करनेवाला साधु नहीं हो सकता। साधुता बाज़ार में मोल नहीं मिलती। जंगल में रहने से भी उस की प्राप्ति नहीं होती। वह न आकाश में है न पाताल में। धन के ढेर होने से उस की प्राप्ति नहीं होती। उस के लिए तो अपनी जान खर्च करनी पड़ती है तब वह मिलती है, और जब मिलती है तब दूसरे के पास नहीं वरन् अपने ही पास मिलती है।

संत कैसे होते हैं, और कैसे नहीं, इस का विवरण हो चुका। अब यह देखें कि साधु लोग क्या करते हैं? इन साधु-संतों का जो आद्य लक्षण लोगों को नज़र आता है, वह है निर्भयता। वे किसी से डरते नहीं। जो सच है उस के कहने में ये ज़रा भी हिचकते नहीं। भगवान् के दास, और उन्हें किसी का भय! यह विचार ही विसंगति का उदाहरण है। बड़ी वीरश्री के साथ श्रीतुकाराम महाराज कहते हैं—

देख वैष्णवों का नूर। जमदूत भागें दूर।
आए आए वैष्णव वीर। काल काँपे क्या असुर?
गरुड़ पताकों का भार। भूमि गर्जत जय-जयकार॥
तुका कहे कलिकाल। भाग जावे देख बल॥

इन विट्ठल वीरों के सम्मुख काल ठहर ही नहीं सकता। इन के मुख से जो जय-जयकार का घोष सुनाई पड़ता है उस से दोषों के पहाड़ फूट जाते हैं। सब पृथ्वी पर इन की अपेक्षा कोई बलवान नहीं, क्योंकि दया, क्षमा और शांति के अभंग-बाण इन के हाथों में होते हैं जिन के सामने किसी का कुछ नहीं चलता। जो मन में वैर ठान कर आता है, वही

मित्र बन कर वापस जाता है। इसी निर्भयता के आधार पर संत परोपकार या भूत-दया का अपना मुख्य कर्त्तव्य करते हैं। संतों की दूकान दिन-रात खुली रहती है। जो कोई जो कुछ माँगने आवे, फ़ौरन् वह चीज़ उसे मिल सकती है। आप का भंडार सदा भर-पूर रहता है। माँगनेवाले की तो इच्छा पूरी हो ही जाती है, पर उस की इच्छा पूरी होने पर भी इन के भंडार में के थैले में कुछ भी कमी नहीं पड़ती। और कमी पड़े भी क्यों? जो इच्छुक बन कर आया है, वही स्वयं निरिच्छा हो कर दूसरों की इच्छाएँ पूरी कर देने में समर्थ बन जाता है। जब याचना की इच्छा ही नहीं रह जाती तो वह बिचारा लेवे भी क्या? सब इच्छाओं को पूरा करनेवाला परमेश्वर ही संत-सज्जनों की कृपा से मिल जाता है, तब और कुछ मिलना बाक़ी ही कहाँ रहता है? फिर तो यह पृथ्वी ही वैकुंठ बन जाती है। जिधर देखो उधर प्रेम की लहरें उठने लगती हैं, और पाप, दुर्बुद्धि इत्यादि बातें तो ढूँढ़े भी नहीं मिलती। कैसे भी दोषी क्यों न हों संत तो उन्हें पवित्र ही बना देते हैं। इन की दृष्टि से अशुभ भी शुभ हो जाता है। पाप, ताप, दारिद्रय तीनों एक साथ ही नष्ट होते हैं। गंगाजी पाप दूर करती हैं, चंद्रमा ताप हटाता है और कल्पवृक्ष के कारण दारिद्रय चला जाता है। पर संत-सज्जन लोग ये तीनों बातें एक साथ ही कर डालते हैं। संसार-समुद्र उतर जाने के लिए यह एक ऐसी नाव है कि इस पर चढ़ते समय या इस में से उतरते समय न हाथ भींगता है न पैर। समूचे संसार के बिंदु का भी स्पर्श न होते हुए आप उसे आनंद से पार कर सकते हैं। इन महानुभावों का दर्शन होते ही चित्त को समाधान मिलता है और सारी चिंताएँ दूर भाग जाती हैं। तुकाराम जी संतों के लिए सदा चंदन की उपमा देते हैं। शोभा, सुगंध और शीतलता संसार में फैलने के लिए ही चंदन का जन्म है। उसी प्रकार सुख, धर्म और भक्ति की वृद्धि करना ही संतों का पवित्र कार्य है। दुःखी, अधर्मी और अभक्त लोगों को उबारने के लिए ही संतों का अवतार है।

ईश्वर का ज्ञान संत ही कराते हैं। हठ से परंतु प्रेम से, ये लोग साक्षात् जनरूप-जनार्दन का अनुभव करा देते हैं। इन की सादी बोली भी हितकारिणी और उपदेशदायिनी होती है। किसी बात की अपेक्षा न रख कर और बड़े कष्ट उठा कर ये अज्ञ-जनों को सिखाते हैं। गाय जिस प्रेम से बछड़े को चाट-चाट साफ़ करती है, वैसे ही ये अज्ञ-जनों को अपनी सुधामयी-वाणी से अपना कर पवित्र करते हैं। सोते हुए जीवों को ये एक से जगाते रहते हैं और चंदन की नाईं लोगों को भी अपने जैसा ही बना देते हैं। चंदन के आस-पास बेर, बबूल के भी पेड़ क्यों न हों, चंदन के साथ रहने के कारण वे जैसे सुगंधित हो जाते हैं या किसी राजा के पास रहने से जैसे ग़रीबों को भी सन्मान मिलता है, उसी तरह जाति-पाँत, गुण-दोष किसी का भी प्रतिबंध न होने के कारण, केवल सत्संगति से ही मनुष्य साधु हो जाता है।

संतों के विषय में श्रीतुकाराम महाराज को यह भावना होने के कारण जब कभी आप को संत-समागम का सुअवसर आता, तब आप के आनंद की सीमा न रहती। आप बड़े प्रेम से उन का स्वागत करते और उन के संमुख बड़ी लीनता से बरतते। इस लीनता के विषय में तो आप की हद थी। आप उन के चरणों पर गिरते, उन की चरण-धूलि माथे पर लगाते, उन के मुख से किसी बात के निकलने की ही देर रहती कि आप उसे पूरी कर डालते। उन की पादुकाओं को कंधे पर उठाते, उन के रहने के स्थान स्वयं झाड़ कर साफ़ करते। एक अभंग में तो आप ने यहाँ तक कह दिया कि संतों का जूठन भी बड़ेभाग्य से खाने को मिलता है। अगर वह थोड़ा भी प्राप्त हो, तो पेट सदा के लिए भर जावे। यहाँ पर वाच्यार्थ के साथ व्यंग्यार्थ क्या है, यह दूसरे एक अभंग में स्पष्ट हो जाता है। 'व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वं' जिस अर्थ में कहा जाता है, उसी अर्थ में उच्छिष्ट शब्द यहाँ पर व्यंग्यार्थ से प्रयुक्त है। संतों के मुख से बाहर पड़े हुए शब्दों का ही अर्थ यहाँ पर व्यंग्य है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि संतवाणी के थोड़े से भी सेवन

से संसारी मनुष्य की क्षुधा-तृषा दूर हो जाती है। इतनी लीनता धारण करने पर भी यदि कोई साधु-पुरुष आप की स्तुति करता, तो आप उसे फ़ौरन् ही रोक देते। आप कहते कि "संतों को मेरी स्तुति न करनी चाहिए। क्योंकि उस तारीफ़ के कारण मुझे जो गर्व होगा, उस के बोझ से यह भव-नदी पार करने में मुझे बड़ी कठिनाई पड़ेगी और फिर उतना ही मैं आप लोगों के चरणों से दूर हूँगा। गर्व मेरे पीछे हाथ धोकर लगेगा और मेरे विठोबा से मुझे दूर ले जावेगा।" अगर कोई सज्जन आप को संत कहता तो आप उसे उत्तर देते कि "मुझे यह क़ीमती जेवर सुहाता नहीं है। न तो मैं भगवत्स्वरूप को पहचानता हूँ, न क्षर को न अक्षर को। इस बात का तो मुझे ज्ञान ही नहीं है कि आत्मा क्या चीज़ है और अनात्मा क्या? मैं तो केवल आप के चरण की धूल हूँ, संतों के पैर की जूती हूँ और केवल संतों के पैर की सेवा करना ही जानता हूँ।" एक अभंग में तो आप ने इतनी स्पष्टता से आत्म-स्थिति का वर्णन किया है कि कुछ कह नहीं सकते। आप ने साफ़ साफ़ कहा है कि "पत्थर पड़े मेरे अभिमान पर और जल जाय मेरा नाम! मेरे पाप के पहाड़ों की सीमा ही नहीं है। इस भूमि पर मैं केवल भार-भूत हूँ। अपनी फ़ज़ीहत क्या और किस से कहूँ? मेरे दुःख से तो पत्थर भी फूट जावेंगे। क्या स्त्री, क्या पुरुष सभी भले-बुरे लोगों से मुझे अपना मुख छिपा ही रखना चाहिए। शरीर, वाणी तथा मन, उसी प्रकार आँख, हाथ, पैर सभी के द्वारा कभी निंदा, कभी द्वेष, कभी विश्वास-घात, कभी व्यभिचार और क्या-क्या कहूँ सभी प्रकार के पाप हुए हैं। जब लक्ष्मी की थोड़ी-बहुत कृपा थी, तब तो मेरे हाथों से कई पाप हुए हैं। दो स्त्रियाँ रहने के कारण भेद-भाव से भी मैं बचा नहीं हूँ। पिता की आज्ञा का अवमान भी मैं ने किया। अविचार, कुटिलता, निंदा, वाद इत्यादिकों को बखानते तो जीभ तक हिचकती है। दिल तो काँप ही उठता है। भूत-दया और उपकार के तो शब्द भी मैं मुख के बाहर नहीं निकाल सकता। मेरी विषय-लंपटता के विषय में तो कुछ कहने

की ही आवश्यकता नहीं। इस लिए संतो, आप ही मेरे मा-बाप हो, आप ही की कृपा से मैं ईश्वर के पास जा सकता हूँ, अन्यथा नहीं।" श्रीतुकारामजी का जीवन-वृत्तांत पढ़े हुए पाठकों से यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि जीवन की किन-किन घटनाओं को लक्ष्य में रख कर तुकाराम जी ने यह अभंग लिखा है। धन्य है इस स्पष्टता को और धन्य है ऐसे कठोर आत्म-निरीक्षण को।" सामान्य जनों में और महात्माओं में यही मुख्य भेद है।

वैष्णव, भगवद्भक्त या संत-सज्जनों के विषय में श्रीतुकाराम महाराज की बड़ी भक्ति थी। आप इन लोगों को ईश्वर से कम न समझते थे। इसी लिए परमेश्वरभक्ति के बराबरी का स्थान आप ने सत्संगति को दिया है। देव और भक्तों का संबंध आप ने एक जगह बड़े अच्छे प्रकार से दिखाया है। परमेश्वर को अवतार क्यों लेना पड़ता है? 'परित्राणाय साधूनाम्' अर्थात् संत-सज्जनों का रक्षण करने के लिए। बिना भक्तों के ईश्वर का माहात्म्य कैसे बढ़ सकता है? इस प्रकार दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं। भक्तों को सुख की प्राप्ति अपने ईश्वर की सेवा से होती है, तो ईश्वर को सब प्रकार के सुख भक्तों द्वारा ही मिलते हैं। ईश्वर ने भक्तों को देह दिया तो भक्तों ने भी ईश्वर को सगुण साकार बना दिया। इस प्रकार देखा जाय तो एक ही वस्तु के ये दो अंग हैं। स्वामी के बिना सेवक को कौन पूछेगा? पर सेवक ही न हों तो स्वामी कहाँ से कहलाएगा? यही स्थिति देव-भक्तों की है और इसी लिए तुकाराम महाराज देव-भक्तों को एक-सा ही महत्त्व देते हैं। जहाँ देव और भक्त का समागम हुआ, वहीं भक्ति की गंगा बहने लगी और आस-पास के लोग उस गंगा से पवित्र होने लगे। जिन भगवद्भक्तों के हृदय में नारायण बँधा हुआ है वे किस बात में कम हैं। धन, विद्या, कुल इत्यादि सभी बातों में उन की बराबरी कोई नहीं कर सकता। भीतर-बाहर सभी प्रकार से वे मधुर रूप हैं। उन के तेज के लिए न उदय है न अस्त। वह तो सदा एक-सा ही रहता है। अब यदि ऐसी भावना

रखनेवाले के सम्मुख कोई संत-निंदा करे तो उस पुरुष को कितना बुरा लगेगा ? परंतु आप के भाग में तो संत-निंदा सुनना रोज़ के रोज़ और घर-घर में ही बदा था। संत-निंदकों पर कई बार आप के मुख से इसी कारण बड़ी फटकारें निकलतीं। जो कोई संतों को दुःख देगा उस का भला तीनों लोक में न होगा। वह केवल संतों का ही नहीं पर साक्षात् ईश्वर का भी शत्रु है। पृथ्वी भी उसे रहने के लिए स्थान देने में हिचकती है। संतों के वाक्यों पर जिस का विश्वास न हो, उस के दोष न मालूम कितने बढ़ गए हैं। उपमा दे कर आप कहते कि गाय का दूध निकालना हो तो वत्स की ही शरण लेनी पड़ती है। यदि बछड़े के साथ कोई बुरे भाव से बरते, तो गाय भी उसे मारने दौड़ती है। इसी प्रकार भगवद्भक्त संतों का शत्रु केवल देव का ही नहीं वरन् अखिल विश्व का शत्रु बन जाता है। पति के मरने पर जैसे स्त्री का कुल, संसार, रूप, गुण, सभी व्यर्थ हो जाते हैं, वैसे ही भक्तों को दूर करने पर दुनिया की हालत होती है। यदि फलों की रक्षा करना हो, तो मूल को ही सींचना चाहिए। इसी तरह यदि सब प्रकार से अपना भला चाहो तो संतों की ही संगति साधनी चाहिए। बिना संत सेवा के ईश-प्राप्ति का मेवा मिलना असंभव है।

अब यह देखें कि तुकाराम महाराज सत्संगति का क्या फल बतलाते हैं। जिस सत्पुरुष को यह अनुभव हुआ कि सारा संसार ईश्वर-स्वरूप है वही संत है, और उसी के पास ईश्वर वास करता है। उस के दर्शन से सब पाप नष्ट होते हैं। काम-क्रोधादिकों को वहाँ तक पहुँचने की ही ताक़त नहीं रहती। सब भूतों के विषय में उस की समबुद्धि हो जाती है। वहाँ पर न भेद रहता है न संशय। जिस शंका ने सब जगत् को खा डाला है, उस शंका को भी सत्पुरुष खा डालता है। संदेह की गाँठ उस के हाथ पड़ते ही छूट जाती है। ऐसे संत के समागम से दूसरों की संसार-तप्त देह शीतल हो जाती है। उन की दुष्ट बुद्धि का नाश होता है और अंत में सत्संगति के कारण वे स्वयं भी

संत हो जाते हैं। जिस प्रकार आग में गई हुई चीज़ आग ही बन जाती है, पारस के स्पर्श से लोहे का सोना हो जाता है, छोटा-सा नाला गंगा जी के प्रवाह में मिल कर गंगा-रूप बन जाता है, चंदन की सुगंधि से दूसरे पेड़ भी चंदन के-से सुगंधित होते हैं, उसी प्रकार, तुकाराम महाराज कहते हैं कि संतों के पैरों पर पड़ा हुआ पुरुष द्वैतभाव का त्याग कर संत-स्वरूप ही हो जाता है। न उस का पहला नाम बाक़ी रहता है, न पहला गुण। हिंदू तत्वज्ञान के अनुसार ब्रह्मज्ञान के आनंद से बढ़ कर कोई आनंद नहीं है। आनंद-वल्ली नामक उपनिषद् में आनंदों का वर्णन किया है। उपनिषत्कार ने लिखा है—"यदि कोई मनुष्य तरुण हो, अच्छा पढ़ा-लिखा विद्वान् हो, बल-सामर्थ्य से युक्त हो और सारी धन-भरी पृथ्वी उस के वश में हो, तो उस मनुष्य को जो आनंद होगा, वही मानुषी आनंद है अर्थात् मनुष्य के आनंद की सीमा है।" ऐसे सौ मानुषी आनंद एक मनुष्य गंधर्व के आनंद के बराबर हैं। इसी शतगुणित क्रम से बढ़ते-बढ़ते देवगंधर्व, पितर, कर्म-देव, देव, इंद्र, बृहस्पति, प्रजापति, इन के आनंद हैं। अंत में प्रजापति के सौ आनंदों के बराबर एक ब्रह्मानंद कहा गया है। परंतु दुःख की यह अंतिम सीमा सत्संगति से सहज में प्राप्त होती है। तुकाराम कहते हैं कि ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने का अत्यंत सुलभ उपाय सत्संगति है। संत सज्जनों के चरण-रज का स्पर्श होते ही वासना का बीज जल जाता है। वासना-रहित चित्त होने पर श्रीराम-नाम का प्रेम उत्पन्न होता है और प्रतिक्षण सुख की बाढ़ होती जाती है। गला भर आता है, आँखों से प्रेमाश्रु की धाराएँ बहने लगती हैं और अंतःकरण में रामचंद्र जी का स्वरूप प्रकट होता है। इस साधन का-सा सुलभ कोई अन्य साधन नहीं, पर इस की प्राप्ति बिना पूर्व-पुण्य के नहीं होती। अर्थात् जिस किसी को सत्संग का लाभ हो उस के पूर्व-पुण्य का अनुमान कर लेना चाहिए। इस प्रकार के ब्रह्मज्ञान से जो आनंद होता है वह ब्रह्मादिक देवताओं को भी दुर्लभ है। क्योंकि इस में

निराकार निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान होते भी सगुण भक्ति बनी ही रहती है। ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति करने में इस प्रकार कष्ट नहीं उठाने पड़ते हैं। यह ब्रह्मज्ञान स्वयं ही संतों के पास आता है। लक्ष्मी को खोजने वाले मनुष्य को वह प्राप्त हो या न हो, पर जिसे स्वयं लक्ष्मी खोजती हुई आती है वह उस से वंचित कैसे रह सकता है? ठीक इसी तरह ब्रह्मज्ञान संत सज्जनों को ढूँढ़ते ढूँढ़ते स्वयं आता है। ऐसे ब्रह्मज्ञान से प्राप्त आनंद को कौन बखान सकता है? बखानने की तो बात अलग रही, उस की कल्पना भी तब तक नहीं आ सकती जब तक कि उस का स्वयं अनुभव न हो। और जिसे अनुभव आता है वह उस अनिर्वाच्य में ऐसा मगन हो जाता है कि मुख से शब्द भी निकालने में असमर्थ हो जाता है।

इस प्रकार का ब्रह्मानंद जिसे हो गया और सत्संग के कारण सगुण-भक्ति निश्चल रख कर जिस ने 'हरि' को अपना मित्र कर लिया, उस के घर के आँगन में बबूल के पेड़ भी कल्पवृक्ष बन जाते हैं। वह जिस राह से जाता है वहाँ के छोटे-छोटे कंकड़ भी चिंतामणि होते हैं। इन हरिभक्तों के ज्ञान की महिमा कौन कह सकता है? इन का दर्शन भी दुर्लभ है, पर तुकाराम पर ऐसे संतों की ऐसी कृपा हुई कि उन के शब्दों का वेदांत-शास्त्र अनुयायी हो गया। इस से बढ़ कर सत्संग का वर्णन क्या हो सकता है? इस लिए इस विषय को अब यहीं पर समाप्त करना चाहिए।

चतुर्दश परिच्छेद : ईश्वर-भक्ति

संत-सज्जनों के विषय में श्रीतुकाराम महाराज की जो कल्पनाएँ और विचार थे, उन का विवरण गत परिच्छेद में दिया गया है। इस परिच्छेद में इस बात पर विचार करेंगे कि श्रीतुकाराम महाराज की ईश्वर-विषयक कल्पनाएँ क्या थीं, सत्यस्वरूप परमेश्वर का यथार्थ ज्ञान होने पर भी आप की सगुण-भक्ति कैसे बनी रही, तथा सगुणस्वरूप में भी किस रूप को और भक्ति-प्रकार में से किस प्रकार को वे प्राधान्य देते थे।

श्रीतुकाराम जी के मत से सारा संसार तीन रूपों में विभक्त था। जड़सृष्टि, चैतन्ययुक्त जीव, और ईश्वर। ईश्वर जड़सृष्टि तथा सचेतन जीवों का अंतर्यामी अर्थात् अंतःसंचालक है। यह दोनों प्रकार की सृष्टि, जो उसी की इच्छा से निर्मित हुई है, ईश्वर की देहस्वरूप है और ईश्वर इस देह का आत्मा है। सृष्टि उत्पन्न होने के पूर्व, ईश्वर अत्यंत सूक्ष्म-रूप से रहता है। जैसे देह के विकारादि आत्मा को विकृत नहीं कर सकते, वैसे ही जड़, सृष्टि तथा जीवों के गुणों से ईश्वर-स्वरूप विकृत नहीं होता। वह सब दोषों से तथा अवगुणों से अलिप्त रहता है। वह नित्य है, जीवों तथा जड़-सृष्टि में ओत-प्रोत भरा हुआ है, सबों का अंतर्यामी है और शुद्ध आनंद-स्वरूप है। ज्ञान, ऐश्वर्य इत्यादि सद्गुणों से वह युक्त है। वही सृष्टि का निर्माण करता है, वही उस का पालन करता है तथा अंत में वही उस का संहार भी करता है। भक्त-जनों का वह शरण्य है। उस के गुणों का आकलन न होने के कारण ही उसे अगुण या निर्गुण कह सकते हैं। एक अभंग में आप ने लिखा है कि—"उस के गुणों का वर्णन कहाँ तक किया जा सकता है! उस की बड़ाई की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जिसे बखानते-बखानते वेद भी चुप हो रहे, मन की भी सामर्थ्य लँगड़ी पड़-

गई, और जिस के तेज से ही चंद्र और सूर्य प्रकाशमन हो रहे हैं, वहाँ तक पहुँचने की जीव की सामर्थ्य ही कहाँ ? जब कि शेष भी अपनी हज़ार जिह्वाओं से उसे वर्णन करने को निकला, तब वह भी विचारा थक गया उस की जिह्वाएँ एक-एक की दो-दो हो गईं, पर फिर भी गुणों का वर्णन न कर सकीं। अंत में वह लज्जित हो कर भगवान् की शय्या बन गया। फिर सामान्य जीव की क्या कथा ?"

श्रीशंकराचार्य जी का पूर्ण-द्वैत तथा मायावाद कुछ सीमा तक आप मानते थे, आगे नहीं। उदाहरणार्थ जब आप ऐसा कहते हैं कि "मिश्री का डला और पिसी शक्कर इन में सिर्फ़ नाम का फेर है। दोनों की मिठास देखी जाय तो कुछ भेद नहीं। पैर, हाथ, नाक, सिर इत्यादि स्थानों के अलंकारों में नाम का ही भेद है। पर गलाने के बाद सब सोना एक-सा ही है। स्वप्न में जो 'हानि, लाभ, जीवन, मरण,' इत्यादि ज्ञान होते हैं, वे तब तक ही सच जान पड़ते हैं, जब तक निद्रा का प्रभाव शरीर पर रहता है। पर जागने पर देखा जाय तो दोनों झूट हैं। इसी प्रकार, हे पांडुरंग, तुम में और हम में क्या भेद है ! तुम्हीं ने जगत् को उत्पन्न किया है, और इसी के कारण मैं और मेरा ये दोनों भाव पैदा हुए हैं।" यहाँ पर पहले दो उदाहरण परिणामवाद के हैं, जिसे शंकराचार्य नहीं मानते, पर तीसरा स्वप्न-दशा का उदाहरण विवर्तवाद का है, जो आचार्य जी के मत से पूर्णतया मिलता है। इसी तरह जब आप कहते हैं कि "पानी में नमक मिला दो, वहाँ क्या बाक़ी रहेगा ? आग और कपूर मिलाए जावें तो वहाँ कौन-सी काली चीज़ बाक़ी रह सकती है ? तुकाराम की और तुम्हारी, हे नाथ एक ही ज्योति थी। जब मैं आनंद से तुम से एक रूप होता हूँ तो मैं पूर्णतया तुम में स्वयं को भूल जाता हूँ।" यहाँ पर अद्वैत-सा मालूम होता है। पर यह आचार्य जी का पूर्णाद्वैत नहीं है। 'देह-भान भूल जाने पर जो समाधि-वृत्ति मनुष्य को किसी काम में लगने से प्राप्त होती है, उसी का यह वर्णन है।' तुकाराम ऐसे भगवद्भक्त तत्वज्ञान

का अभ्यास शास्त्रदृष्टि से नहीं करते हैं। वे जब ईश्वर से ऐसा प्रेम करते हैं जहाँ 'मैं भक्त और तुम देव' का भाव अशक्य होता है, ऐसे तत्वज्ञान से उन्हें प्रेम ही नहीं रह सकता।

भक्ति-रहित ज्ञान, अद्वैत-ज्ञान पर आप ने खूब ही फटकार दिखाई है। आप का मत है कि "जो भक्ति-रहित सूखे ज्ञान का विवरण करता है, उस के शब्द भी न सुनने चाहिए। यदि कोई भक्ति-भाव को छोड़ केवल अद्वैत को ही समझाता है तो समझानेवाला, वक्ता तथा समझने वाला श्रोता दोनों दुःख के ही अधिकारी होते हैं। 'अहं ब्रह्म' 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा कहते हुए भी जो अपनी उपजीविका कर अपने पिंड का पोषण करता है, उस बकवाद करनेवाले से न बोलना ही ठीक है। ईश्वर को छोड़ जो निर्लज्ज पुरुष पाखंड-मत का प्रतिपादन करता है उस का सज्जनों के समाज में काला मुख होता है। ईश्वर और भक्तों में जो संबंध है उसे जो तोड़ डालता है उस से तो कुत्ते का मांस खाने वाला चांडाल भी अच्छा है।" यहाँ पर भक्ति को न माननेवाला अद्वैत ज्ञान की खूब ही निंदा है। इस प्रकार का अद्वैत ज्ञान आप को कभी नहीं भाता। आप कहते हैं—"मेरे लिए अद्वैत-ज्ञान में समाधान नहीं है। मुझे तो तेरे चरणों की सेवा ही भाती है। इस लिए योग्य समझ कर तू मुझे यही दान दे कि मुझे सर्वदा तेरा नाम और तेरे गुणों का कीर्तन ही प्यारा रहे। देव और भक्त का भाव अत्युच्च आनंद का साधन है। इस लिये मुझे अपने से भिन्न ही रख कर उस आनंद का आस्वाद लेने दे। यह सब जो कुछ दिख रहा है, सब तेरा ही है। किसी रोज़ तो मुझ पर यह प्रसाद हो।" यहाँ तत्वज्ञान से विरोध करते हुए भी आप ने मनोगत ईश्वर-भक्ति के आनंद की शरण ली है। अपने हृदय की भावनाओं को तुकाराम ऐसे सत्पुरुष सर्वदा ही अधिक मान देते हैं।

मायावाद को मानते हुए भी आप का मत था कि केवल ज्ञान से माया दूर नहीं हो सकती; ईश्वर की कृपा से ही हो सकती है। आप

कहते हैं—"संसार झूठ है और माया से भरा है, यह समझ कर भी मुझे विवेक नहीं होता। मुझे फिर भी यह बाजीगरी या नज़रबंदी सच ही मालूम होती है। विचार करता हूँ तो यहाँ कुछ भी दिखाई नहीं देता, पर मुझे दुःख तो इस बात का है कि इस से छुटकारा भी नहीं होता और छुटकारे का कोई उपाय भी नहीं दीखता। आगे मेरा क्या होगा, कुछ समझ में नहीं आता। इस लिए, हे नाथ, आप के पैरों पर माथा रखता हूँ। अब जो कुछ आप को करना हो, मज़े से कीजिए। मैंने तो एक आप को ही दृढ़ पकड़ लिया है। मुझे तो सूझता ही नहीं कि मेरा हित किस में है। अब तो आप ही मेरी नैया पार लगा सकते हैं।" एक और अभंग में आप ने लिखा है—कि "जहाँ ब्रह्म तहाँ माया और जहाँ माया तहाँ ब्रह्म है। दोनों ऐसे संबद्ध हैं जैसे देह और उस की छाया। यदि इसे कोई दूर करना चाहे तो वह कभी अलग नहीं होती। पर जैसे नीचे लेटने पर छाया अंग से बिल्कुल एक रूप होती है उसी प्रकार ईश्वर की पूर्णतया शरण जाने से ही इस माया का लोप हो सकता है, अन्यथा नहीं। दूसरी कुछ भी सामर्थ्य वहाँ पर काम नहीं आती। विचारों के प्रयत्न तो वहाँ निष्फल ही होते हैं। मनुष्य जितना ऊँचा होता है उतनी ही यह माया बढ़ती जाती है, और वह जितना नम्र होता है, उतना ही वह भी कम होती जाती है।" बस, इसी मनःस्थिति का नाम शरणागति है।

तुकाराम जी के मत से भक्ति के लिए कर्म तथा ज्ञान दोनों की आवश्यकता थोड़ी-थोड़ी अवश्य है। पर इन कर्म तथा ज्ञान शब्दों के अर्थ भिन्न हैं। 'कर्म' शब्द से यज्ञ-यागादि वेदविदित कर्म का लक्ष्य नहीं है पर कर्तव्य पालन, ईश्वर-सेवन, एकादशी-व्रतोपवास, पंढरपुर की वारी और दान ये कर्म विहित हैं। परंतु ये सब कर्म अनासक्ति-पूर्वक अर्थात् उन के फल की इच्छा न रखते हुए करने चाहिये। इन कर्मों के आचरण से चित्त-शुद्धि होती है। कर्तव्य-पालन के विषय में आप कहते हैं—"स्वामि-कार्य, गुरु-भक्ति, पित्राज्ञा-पालन, पति-सेवा इत्यादि

भिन्न-भिन्न कर्तव्यों का पालन यही विष्णु पूजन है। सत्य-वचन और पर-दुःख से दुःखित होना बड़े महत्त्व का है, और श्रद्धा-पूर्वक प्रयत्न कर के उस से इष्टफल-प्राप्ति कर लेना, यही मनुष्य का प्रधान कर्तव्य है।" इन कर्मों से चित्त-शुद्धि होने के बाद मनुष्य को ज्ञान-प्राप्ति होती है। 'ज्ञान' शब्द का अर्थ श्री तुकाराम जी के मत से अपने को पहिचानना, अर्थात् जीव-सृष्टि में और जड़-सृष्टि में जो चैतन्य खेल रहा है, वही अपनी देह में है, इस बात को पहिचानना है। अनासक्त कर्म और जीवशिव तत्त्व-ज्ञान के बाद मनुष्य के चित्त में भगवद्भक्ति उत्पन्न होती है। इस भक्ति का प्रधान लक्षण शरणागति है। इस मनःस्थिति के लिए आत्म-समर्पण की अत्यंत आवश्यकता है। मेरे किये कुछ नहीं होता। जो कुछ होता है ईश्वर की इच्छा से ही होता है। वह अनाथों का नाथ और पतितों का पावन है। वह कैसे भी पापी का उद्धार कर सकता है। संसार में सुख नहीं पर दुःख ही दुःख भरे हुए हैं। इन दुःखों से छुटकारा पाने का एक मात्र मार्ग ईश्वर पर भार डाल उस की शरण जाना है।' इसी शरणागति में सुख है।' ईश्वर मेरा उद्धार करने वाला है' यह दृढ़ श्रद्धा ही भक्तों को सब प्रकार की भीतियों से निर्भय कर देती है। अर्थात् भक्त को ईश्वर की प्रार्थना करने के सिवाय और कुछ काम नहीं रहता। ईश्वर का पूजन, उसी का स्मरण, उसी के गुणों का कीर्तन और उसी का दर्शन, भक्त का प्रधान कर्तव्य कर्म हो जाता है। श्रीतुकाराम महाराज जी ने अनासक्त कर्म कैसे किए, तथा उन्हें ईश्वर ज्ञान कैसे हुआ, इत्यादि बातें पूर्व परिच्छेदों में दिखलाई जा चुकी हैं। अब केवल ईश्वर स्वरूप का ज्ञान होने पर आप ने नाम-स्मरण कीर्तन तथा पंढरी की वारी के विषय में जो कुछ लिखा है, उसे ही देखना है।

महाराष्ट्र के भागवत-धर्म का कार्य पूर्व-परिच्छेदों में दिया ही है। इस धर्म का प्रसार होने के पूर्व ईश्वरोपासना का कार्य ब्राह्मणादि लोगों तथा संस्कृत-भाषा के द्वारा ही होता था। ज्ञानेश्वर तथा एकनाथ प्रभृति

३५१

संतों ने भगवद्गीता, रामायण तथा भागवत इत्यादि ग्रंथों पर प्राकृत-भाषा में टीका लिख कर संस्कृत-भाषा न जानने वाले लोगों के लिए आत्म-ज्ञान का मार्ग खोल दिया था। परंतु फिर भी इन ग्रंथों द्वारा शिक्षित लोगों की ही ज्ञान-लालसा तथा मुक्ति-पिपासा शांत हो सकती थी। अशिक्षित कृषकों के सामान्य जनों के लिये ये ग्रंथ भी दुर्बोध ही थे। इन की काव्य-पूर्ण भाषा, उन में प्रतिपादित वेदांतादि शास्त्रों के सिद्धांत, इन लोगों की ग्रहण-शक्ति के बाहर ही थे। इन में नामदेव प्रभृति भक्तों के भक्तिरस में सने हुए चुटकुले अभंग ही अधिक प्रिय थे। श्रवण, कीर्तन, नाम-स्मरण इत्यादि नव-विधि भक्ति में नाम-स्मरण का भी एक प्रकार था। परंतु इस नाम-मंत्र का भी प्रायः किसी गुरु द्वारा ही उपदेश दिया जाता था। ये गुरु प्रायः 'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः, वचनानुसार प्रायः ब्राह्मण-जाति के ही रहते थे। इस लिए संस्कृतज्ञ की दृष्टि से यद्यपि ब्राह्मणों का महत्व कम हुआ तथापि इस गुरुत्व की दृष्टि से बढ़ा ही रहा था। श्रीतुकाराम महाराज के उपदेश का परिणाम यह हुआ कि इस 'गुरुडम' के बंधन से सामान्य लोग छूटने लगे। नामधारी गुरुत्व पर आप ने खूब ही फटकारें लगाई हैं। यहाँ तक कहने को कम नहीं किया कि "गुरु-गुरु कह कर अपने चारों ओर शिष्यों का भार जमाने वाले लोग 'गुर्गुर' करने वाले कुत्तों से हैं। फ़र्क़ यही है कि इन के चार पैर और पूँछ नहीं हैं। पर-स्त्री और मद्यपान के बाँट का सेवन करते-करते ये लोग नरक में जाने के लिए दत्त-चित्त हैं।"

श्रीतुकाराम महाराज ने नाम-स्मरण की मीमांसा बड़ी अच्छी रीति से की है। आप का कथन है कि यदि परमात्मा निर्गुण निराकार है और यदि माया नाम रूपात्मक है, तो ईश्वर का स्मरण किसी नाम-रूप से क्यों न हो, वह मायाच्छादित ही है। अर्थात् इस नामरूप को ऐसा महत्व नहीं, जिस के लिए गुरु की आवश्यकता हो। और यदि हो भी तो माया के-से झूठ-मूठ स्वप्न में भी वह मिल सकता है। उस के लिए किसी ढोंगी गुरु के पास जाने की आवश्यकता नहीं। ईश्वर

के नामरूपों में से किसी रूप में या किसी नाम से उस का चिंतन या स्मरण हो सकता है। नामरूप की आवश्यकता केवल चित्त की एकाग्रता करने के लिए आवश्यक है। तीर मारने के लिए जिस प्रकार किसी लक्ष्य को सामने रख चाँदमारी का अभ्यास किया जा सकता है, उसी प्रकार चित्त की एकाग्रता के लिए कोई भी ईश्वर नाम पर्याप्त हो सकता है। राम, कृष्ण, हरि, केशव इत्यादि संस्कृत नामों से ले कर विट्ठल, पांडुरंग इत्यादि प्राकृत नामों तक का कोई भी नाम काम दे सकता है। केवल उस नाम की आड़ में सर्व-शक्तिमान् भक्त-वत्सल ईश्वर की कल्पना आवश्यक है। जब तक यह कल्पना और शरणागति की मनःस्थिति विद्यमान है तब तक चाहे जिस नाम का स्मरण करो, फल एक-सा ही है। इसी कारण नाम-स्मरण का माहात्म्य कहते हुए श्रीतुकाराम महाराज किसी एक नाम पर ज़ोर नहीं देते। स्वाभाविक रीति से विठ्ठल नाम उन के मुख से अधिक निकलता है, पर दूसरे नामों से उन का विरोध नहीं है।

नाम-स्मरण की भक्ति को श्रीतुकाराम जी जिन कारणों से महत्व देते थे या यों कहना अधिक ठीक होगा कि जिन कारणों को दिखा कर आप लोगों को नाम-स्मरण में प्रवृत्त कराते थे, निम्न-प्रकार के हैं। आप ने इस बात का स्वयं अनुभव कर लिया था कि नाम-स्मरण से क्या लाभ होता है। एकाग्र चित्त करने के लिए इंद्रियों को स्थिर करना होता है। वाक् या जिह्वा ज्ञानेंद्रिय तथा कर्मेंद्रिय है और इसे वश में रखने के लिए नाम-स्मरण से उत्तम साधन कोई नहीं है। भिन्न-भिन्न रसों का आस्वाद लेने में तथा दूसरों की निंदा करने में चतुर इस जीभ को इस नामरस का अमृत-तुल्य आस्वाद चखा कर एक सा 'राम-राम' रटने में प्रवृत्त रखना ही इस पर विजय पाने का सुलभ साधन है। इस अनुभव के आधार पर स्थित होने के कारण आप का उपदेश बड़ा प्रभाव डालता था। लोग इस बात को जान चुके थे कि यह उपदेश केवल ज़बान उठा कर की हुई बकवाद नहीं है, पर

'पहले कर पीछे कह' वाले सद्भक्त का स्वगत अनुभव है। और इसी लिए उस उपदेश को सुन कर लोग केवल मुग्ध ही नहीं होते थे पर स्वयं उसी प्रकार आचरण करने लगते थे। नाम-स्मरण की श्रेष्ठता के विषय में जो कारण श्रीतुकाराम जी महाराज ने दिए हैं उन में प्रथम है सुलभता। ईश्वर-प्राप्ति के अनेक साधन हैं, परंतु वे सब बड़े कठिन हैं। यथा योग, वैराग्य, कर्म, भक्ति इत्यादि। पर योग के लिए चंचल मन को रोकना आवश्यक है जो कि बड़ा कठिन काम है। वैराग्य के लिए वासनाओं का त्याग करना चाहिए, जो असंभव-प्राय ही है। देह-बुद्धि जब तक है तब तक कर्म-फल की इच्छा छूटती नहीं अर्थात् अनासक्त बुद्धि से कर्म होता नहीं। भक्ति भी फलवता करने के लिए काम-क्रोधादिकों का उफान शांत करना ज़रूरी बात है। इस प्रकार सब साधनों में कुछ न कुछ झंझट अवश्य लगे हुए हैं, जिन के कारण सामान्य जनों को साधन असाध्य हो जाते हैं। और इसी लिए भगवन्नाम-स्मरण ही सर्व सुलभ साधन है। श्रीतुकाराम जी महाराज कहते हैं—"युक्ताहार अर्थात् थोड़ा खाना और वह भी सात्त्विक—ऐसे साधनों की ज़रूरत नहीं। इस कलियुग में नारायण ने ईश्वर प्राप्ति का बड़ा सुलभ मार्ग दिखलाया है यह कि नाम-स्मरण करते रहो। फिर अन्य व्यवहार छोड़ने की आवश्यकता नहीं, संसार त्याग की ज़रूरत नहीं, 'विभूति रमा कर' दंड धारण करना नहीं, वन में जाना नहीं, कुछ नहीं। केवल नाम-स्मरण यही सुलभ उपाय है। दूसरे सब झूठ ही मालूम पड़ते हैं। दूसरा कारण नाम-स्मरण की श्रेष्ठता का है अधिकार का अभाव। नाम-स्मरण करने का अधिकार कुछ विवक्षित विशिष्ट लोगों को ही नहीं है, जैसा कि वेद-पठन का अधिकार केवल द्विजों को ही है। वेदों का अर्थ पाठकों को आता नहीं और द्विजेतर लोगों को पाठ का भी अधिकार नहीं। नाम-स्मरण के लिए सब लोगों को अधिकार है। यहाँ न कुछ विधि है, न निषेध। स्त्री, शूद्र, ब्राह्मण सबों के लिये यह साधन एक-सा है। यहाँ पक्षपात किसी

प्रकार का नहीं है। तीसरा कारण यह है कि नाम-स्मरण के अतिरिक्त अन्य साधन जब चाहो तब नहीं कर सकते। पर इस साधन के लिये समय की मर्यादा नहीं। यही एक ऐसा साधन है जिस का अवलंब सदा सर्वदा कर सकते हैं। जाते-आते, उठते-बैठते, काम करते, देते-लेते, खाते समय और तो क्या रात्रि को शय्या पर सब प्रकार का सुखानुभव करते हुए भी नाम-स्मरण कर सकते हैं। अंतिम कारण है इस साधन की निर्भयता। अन्य साधनों में यदि कुछ भूल हो जाय तो कुछ न कुछ अनर्थ का डर रहता है। यथा स्वर-भ्रंश हो जाय तो वेदपाठ में अनर्थ होता है। बिचारा इंद्र-शत्रु केवल अशुद्ध स्वरोच्चार से मारा गया। मंत्र-तंत्रों में भूल हो, तो साधक पागल बन जावे। पर इस साधन में किसी बात का डर नहीं। अन्य साधनों के उपदेशकों ने इस प्रकार जो-जो बातें अपने साधन की महत्ता दिखलाने के लिये प्रचलित की थीं, वे ही बातें नाम-स्मरण को सुलभ बताते हुए श्रीतुकाराम जी ने दोष दृष्टि से दिखलाईं और नाम-स्मरण की श्रेष्ठता, सुलभता, सर्वाधिकार सर्वदा आचरणीयता और निर्भयता इन बातों से प्रस्थापित की।

श्रीतुकाराम जी महाराज नाम-स्मरण का उपदेश करते हुए पुराण ग्रंथों का भरपूर आधार लेते थे। अजामिल, जिस ने कि अपने लड़के का नाम नारायण रक्खा था और उसी को बुलाते हुए 'नारायण, नारायण,' कहकर जिस का उद्धार हुआ था; गणिका जिस ने एक तोता पाला था और उसे सिखाते हुए 'राम राम, कृष्ण कृष्ण' कहते हुए जो मुक्त हो गई थी; वाल्मीकि, ध्रुव, प्रह्लाद, उपमन्यु इत्यादि अनेक कथाओं के आधार पर तुकाराम जी ने हमेशा नाम-माहात्म्य स्थापित करते। एक ओर आप ऐसा प्रश्न करते कि—"सज्जनों, क्षमा कीजिये मेरी धृष्टता को। पर यह तो बताइए कि नाम ले कर किस मनुष्य का उद्धार नहीं हुआ? आप यदि किसी ऐसे मनुष्य को जानते हों तो मुझे बतला दीजिए।" दूसरी ओर बड़े ठाठ के साथ कह देते थे कि—"वेद ने अनंत बातें कहीं पर एक ही अर्थ दिखलाया। सब शास्त्रों ने विचार कर के यही

निश्चित किया। सब पुराणों में एक ही सिद्धांत प्रतिपादित किया। वह है — विठोबा की शरण जाओ और अपनी निष्ठा के अनुसार उस का नाम लो।" नाम-स्मरण की निंदा करनेवालों को आपने बड़े ही कठोर शब्दों में फटकारा है। आप कहते हैं "जो नाम के दोष दिखलाता है, उस का दर्शन भी मैं नहीं चाहता। उन के शब्द तो मुझे विष से लगते हैं। उस के शब्दों में निंदा की बू आती है और इसी लिए ऐसी अमंगल वाणी कानों से सुनी भी नहीं जासकती। उस की विद्या से लाभ ही क्या? न मालूम किस पुराण के आधार पर वह बोलता है। उस के मुख की आड़ क्या लगाऊँ या उस की जिह्वा बंद कैसे करूँ? सज्जन तो जीते जी उस के पास न जावेंगे। मरने पर यमदूत ही फ़िक्र करेंगे।" एक और अभंग में तो इन नाम-निंदकों की निंदा करते हुए आप कह उठे कि, "इस नाम-निंदक से बोलने के कारण जो पाप लगेगा, उस की शुद्धि के लिए कोई साधन ही नहीं। कोई-भी प्रायश्चित्त उसे शुद्ध नहीं कर सकता। मुझे तो सौगंध है मेरे ईश्वर विट्ठल की, जो मैं उस से बोलूँ या बात करूँ।" नाम की निंदा सुन कर आप की शांति का भंग हो जाता और आप के मुख से ऐसे कटु शब्द निकलते, जिन का कुछ ठिकाना नहीं। अपनी खुद की निंदा सहन करना आप के लिए कठिन न था, पर विट्ठल-नाम की निंदा आप से कभी न सही जाती।

नाम-स्मरण पर आप की अटल श्रद्धा थी। आप का दृढ़ विश्वास था कि "हरि कहने से ही मुक्ति मिलती है। हरि कहने से ही पाप का नाश होता है। हरि-स्मरण ही से सब सुख मिलते हैं। हरि-स्मरण के कारण ही इस जन्म-मरण की यातायात से मनुष्य छूटता है। तपस्या, अनुष्ठान इत्यादि साधनों की नाम-जपनेवाले को आवश्यकता नहीं। केवल हरि-हरि कहने से ही सब प्रकार के कार्य सिद्ध होते हैं, और सब प्रकार के बंधन छूट जाते हैं। यदि हरि का नाम लिया जाय, तो दूसरों की तो बात ही क्या, साक्षात् काल भी उस की शरण लेता

है।" आप के मत से तो संसार में ऐसा कोई पाप ही न था, जो नाम-स्मरण करने के बाद बाक़ी बच सके। नाम-स्मरण की महिमा अपरंपार है। चित्त को एकाग्र कर नारायण-स्मरण करने से सभी कुछ प्राप्त हो सकता है। जो समझना अत्यंत कठिन है, वह भी नाम-स्मरण से सुलभतया समझ में आ जाता है। अदृश्य बातें दृश्य होती हैं। जो बातें मुख से बोली नहीं जा सकतीं, अर्थात् वाणी से भी परे रहती हैं, उन का अनुभव आने के कारण वे भी बोलने योग्य हो जाती हैं, और जिस की भेंट परम दुर्लभ है, उस की भी भेंट हो जाती है। सार यह कि सब प्रकार के अलभ्य लाभ नाम-स्मरण से प्राप्त होते हैं। और तो क्या केवल इस जन्म के ही नहीं, पूर्व जन्मों के संचित कर्मों का तथा अगिम जन्मों में क्रियमाण कर्मों का सब बंध नष्ट हो जाता है, और भवरोग समूल दूर होता है। आधिभौतिक, आध्यात्मिक तथा आधिदैविक, तीनों प्रकार के ताप शांत होते हैं और माया दासी हो कर उन के पैरों पड़ती है। किंबहुना, सभी प्रकार के लाभ केवल नाम-स्मरण से प्राप्त होते हैं। केवल दृढ़-श्रद्धा और प्रेम मन में होना चाहिए। श्रद्धा का प्रभाव बड़ा भारी है। तुकाराम जी के मत से यदि दृढ़ श्रद्धा रहे तो सभी प्रकार की सिद्धियाँ नाम-स्मरण से प्राप्त हों। फल जब तक उस के डंठल पर जमा रहता है, तभी तक उस के पकने की आशा रहती है। वैसे ही जब तक श्रद्धा है, तब तक सब सिद्धियाँ प्राप्त होने की संभावना है। जिस मार्ग से जाना आरंभ किया उसी मार्ग से यदि इष्ट स्थल पर पहुँचना हो तो बीच में कुछ विघ्न न आने देना चाहिए। इन बीच के अश्रद्धादि आघातों से ही सब प्रकार का नाश होता है। श्रद्धा, प्रेम और नाम-स्मरण इन तीन बातों का समागम होने पर और क्या चाहिए? फिर ईश्वर के बुलाने की आवश्यकता नहीं, वह स्वयं उन भक्तों को खोजते-खोजते उन के घर आ पहुँचता है।

नाम-स्मरण का माहात्म्य बहुत है, पर इस में एक कमी यह है कि इस साधन का उपयोग एक-एक कर प्रत्येक मनुष्य को करना पड़ता

है। इस लिए सब समाज का एक ही समय एक चित्त करने के हेतु भगवद्गुणों का संकीर्तन करना बहुत उपयुक्त साधन है। गुण-संकीर्तन करने के समय यदि वक्ता प्रेम से भगवद्गुणों का अनुवाद करता हो, तो सारा का सारा श्रोतागण एकतान एकचित्त हो ईश्वरभक्ति में मग्न हो सकता है। एवं अनेक अज्ञानी जीवों के चित्त में भगवत्प्रेम एक ही समय पैदा करने के लिए कीर्तन की अपेक्षा अन्य सुलभ साधन नहीं। कीर्तन से नाम-स्मरण में और भी दृढ़ श्रद्धा होती है। उदाहरणों द्वारा भक्ति का प्रभाव मनःपटल पर अधिक दृढ़ता से पड़ता है, और कीर्तन के सार्वजनिक रंग में रँगने के पश्चात् मन एकांत में नाम-स्मरण करने को अधिक चाहता है। इसी कारण श्रीतुकाराम महाराज कहते हैं कि यह कीर्तन का सार्वजनिक सुख स्वर्ग में भी प्राप्त नहीं है। देव भी इसी लिए चाहते हैं कि इस मृत्युलोक में हमें जन्म मिले। नारायण नाम-संकीर्तन कर और कीर्तन में अनंत गुण का गान कर जीवन्मुक्त हो जाना यहीं पर संभाव्य है। वैकुंठ के लोक इन कीर्तनकारों की राह देखते हैं, और यमलोक के निवासी इन से बहुत डरते हैं। कीर्तन में ईश्वर के सम्मुख प्रेमामृत की धारा बहती है। तुकाराम जी ने हरि-कथा को ऊर्ध्ववाहिनी कहा है, अर्थात् यहाँ की प्रेमधारा नीचे से ऊपर को बहती है। आरंभ में लोगों के मन में प्रेम उत्पन्न कर धीरे-धीरे वह उन के मनोविकारों को अपने वश करती है और शनैः-शनैः सब इंद्रियों को ईश्वर-विषय में आसक्त कर मनुष्य को उच्चकोटि पर पहुँचाती है और अंत में उसे मुक्त करती है। इसी कारण श्रीशंकर जी हमेशा नाम गुण-गान करते हैं। ऐसे कीर्तन की महिमा वर्णन करना साक्षात् ईश्वर के लिए भी अशक्य है।

कीर्तन का महत्व तुकाराम जी ने यों बखाना है। "कीर्तन में ईश्वर का ध्यान होता है। अन्य विषयों में आसक्त मन एक-दम ईश्वर की ओर खींचा जाता है। कीर्तन सब साधनों का अलंकार है, और इस से अधिक पुण्य दुनिया में कहीं नहीं है। भाव-भक्ति से कीर्तन कर

मनुष्य स्वयं तो तरता ही है पर अन्य जनों को भी तारता है। 'नारायण' 'नारायण' सुलभ मंत्र का उच्चार लोगों के सब दोषों को जलाकर खाक कर देता है। हरि-कथा दुःख-हरण करती है. जनों को मुक्ति दिलाती है, पापों का नाश करती है, दोषी लोगों का उद्धार करती है और जड़-मूढ़ लोगों को समाधि-स्थिति का अनुभव दिलाती है। कीर्तन में तपस्या होती है, ध्यान-धारणा सधती है और अमृत-पान का आनंद मिलता है। कीर्तन में मंत्रों का जप होता है और कीर्तन के समय कलि-काल काँप उठता है। लोगों की तो कथा ही क्या, हरि-कथा में साक्षात् परमेश्वर भी मुग्ध हो कर समाधि-मग्न वहीं खड़ा हो जाता है। कथा एक प्रकार का 'त्रिवेणी-संगम' है। यहाँ पर देव, भक्त और नाम तीनों का समागम होता है। यहाँ के चरण-रजःकणों को वंदन करना सब से उत्तम है। कथा से दोषों के पहाड़ के पहाड़ जलने लगते हैं और इस पवित्र हरि-कथा का श्रवण करनेवाले नारी-नर शुद्ध हो जाते हैं। सब के सब तीर्थ यहाँ पर स्वयं पवित्र होने के लिए आ पहुँचते हैं और सारे पर्व-काल इन वैष्णवों के पैरों पड़ने के लिए यहाँ जमा होते हैं। इस की महिमा अनुपम है, किसी को भी उपमा इसे नहीं दी जा सकती। इस सुख का वर्णन करने में ब्रह्म-देव भी असमर्थ है।

श्रीतुकाराम महाराज के सब प्रयत्न सामान्य-जनों का उद्धार करने के विषय में थे। नाम-स्मरण से व्यक्ति का उद्धार हो सकता है और कीर्तन से समाज का। पर केवल छोटे-से समाज के उद्धार से आप के जी को संतोष न था। आप चाहते थे कि गाँव के गाँव, प्रांत के प्रांत, देश का देश, ऊँचा उठे। इस के लिए केवल कीर्तन पर्याप्त न था इन्हें भजन-कीर्तन करनेवाले सब के सब समाजों को एक ही सूत्र में ग्रथित करना था और इस भक्ति-मार्ग के विरोधक—क्या वेद-पाठक पंडित ब्राह्मण और क्या वेद-निंदक मूर्ति-भंजक मुसलमान—लोगों को अपने मार्ग का बल दिखलाना था। इस प्रधान हेतु से आप पंढरपुर

की वारी की महत्ता समझते थे। सांघिक प्रार्थना का सामर्थ्य आप ख़ूब जानते थे। आज भी किसी बड़ी जुम्मा मसजिद में हमारे हज़ारों मुसलमान भाइयों को एक साथ नमाज़ पढ़ते हुए देख या योरप के किसी बड़े गिरजाघर में हजारों ख़िस्त बांधवों को एक साथ प्रार्थना करते हुए देख मन में जो गंभीरता का भाव प्रकट होता है, वह अवर्णनीय है। संघ-शक्ति का प्रभाव बड़ा भारी है। जब एक दो नहीं, दस-बीस नहीं, सौ-दो सौ नहीं, हज़ारों लोग एक ही बात करते हुए नज़र आते हैं, तो उस बात का प्रभाव मन पर पड़े बिना नहीं रहता और हठात् मन में वही प्रेरणा पैदा होती है। उस विषय में कैसी भी अश्रद्धा रखने वाला हो, उस का भी चित्त उन्हीं भावनाओं से उमड़ने लगता है और वह स्वयं अपनी निज की भावनाओं को भूल उन्हीं नई भावनाओं के वश हो जाता है। योरप के किसी बड़े 'बालरूम' नृत्यगृह के आस-पास मज़ा देखते हुए हमारे भारतीय भाइयों को कई बार इस बात का अनुभव हुआ होगा कि नाचने का मज़ाक़ उड़ाते हुए भी जब बाजे बजने लगते हैं और हज़ारों युवक-युवतियाँ गले में हाथ डाले एक ही ताल पर नाचने लगती हैं, तब उसी नाचने के मज़ाक़ को भूल इन भारतीय भाइयों के भी पैर उसी ताल पर हिलने लगते हैं, और खड़े-खड़े ही इन का नाच शुरू हो जाता है। महाशिवरात्रि के दिन किसी अंग्रेज़ी पढ़े हुए फ़ैशनेबुल बाबू साहब को श्रीकाशी-विश्वनाथ जी की दर्शन-यात्रा को ले जाइए। ज्ञानवापी के पास पहुँचने के समय तक वे अपने कपड़ों की इस्तरी बचाने के ही फ़िक्र में रहते हैं। पर ज्यों ज्यों भोले-भाले भाविक भक्तों की भीड़ में आप मिलते जाते हैं, ख़ुद के पैरों से चलना असंभव हो कर भीड़ के हिलोरों के साथ ही क़दम आगे-पीछे उठने लगते हैं, गंगा-जल का लोटा और बेल-फूल की पुड़िया लिया हुआ दाहिना हाथ उठाए, हज़ारों शिवभक्तों की 'शंभो हर' की ललकारें कानों में गूँजने लगती हैं, हमारे बाबू साहब भी धीरे-धीरे अपने को भूलने लगते हैं, उन के हृदय में भी एक नई उमंग उमड़ती है, और

अंत में वे स्वयं भी उसी 'शंभो हर' की गर्जना में शामिल हो जाते हैं। पंढरपुर की वारी की भी ठीक वही बात है। आषाढ़ और कार्तिक की शयनी और प्रबोधिनी एकादशी के दिन जब हज़ारों ही नहीं, लाखों लोग पंढरपुर में एकत्रित होते हैं, जब जगह-जगह इन लोगों के भजन होते हैं, जब जिधर देखो उधर मृदंग और झाँझ की आवाज़ सुनाई देती है, और जब ये सब के सब लोग 'विट्ठल' 'विट्ठल' कहते हुए नाचने लगते हैं, तब इस विट्ठल शब्द का नाद केवल मनुष्यों के ही मन में नहीं, पर घरों के पत्थरों में भी गूँजने लगता है और अभाविक से अभाविक मनुष्य भी अपनी अश्रद्धा तथा नास्तिकता भूल कर स्वयं ही 'विट्ठल' 'विट्ठल' 'विट्ठल' 'विट्ठल' कह कर नाचने लगता है। सांघिक सामर्थ्य का यह प्रभाव ध्यान में रख कर ही श्रीतुकाराम महाराज ने पढरी की वारी का तथा पंढरी-क्षेत्र का माहात्म्य वर्णन किया है। पाठकों को भी पंढरी-माहात्म्य-विषयक अभंग इसी बात को ध्यान में रख कर पढ़ने चाहिए।

पंढरपुर की वारी का एक सब से बड़ा लाभ तुकाराम जी को दिखाई देता था। वह था सब इंद्रियों को एक-सा आसक्त रखना। वारी को निकलने के समय से ही विट्ठल नाम की गर्जना करने के कारण और मार्ग भर विट्ठल का ही भजन करने के कारण जिह्वा तो हरि नाम में आसक्त रहती ही है। एक ही नहीं सभी के सभी लोगों के विट्ठल नामोच्चार करने के कारण कानों को भी सिवाय विट्ठल नाम के और कुछ सुनाई नहीं देता है। हाथ, झाँझ या मृदंग बजाने में तत्पर रहते हैं। पंढरपुर पास आने के समय से ही नेत्र श्रीविट्ठल-मंदिर का शिखर देखने में तथा वहाँ के सब स्थानों का दर्शन करने में तल्लीन रहते हैं। पैर तो एक-से श्रीविट्ठल-मंदिर की ओर बढ़ते ही रहते हैं। सभी तरफ़ श्रीविट्ठल के लिए तैयार किए हुए तुलसी के तथा फूलों के हारों की सुगंध आने के कारण घ्राणेंद्रिय भी तृप्त होती है। संतों की भेंट लेने में तथा उन से मिलने में स्पर्श-सुख का भी आनंद मिलता है। एवं सब कर्मेंद्रिय तथा ज्ञानेंद्रिय एक ही ईश्वर-भक्ति में लवलीन

रहने पर यदि चित्त भी और कहीं न जा कर परमेश्वर-चिंतन में ही आसक्त हो तो आश्चर्य ही क्या ? इन्हीं बातों को ध्यान में रख कर श्रीतुकाराम जी कहते हैं "चलो—पंढरपुर को जावें और रुक्मिणी पर श्रीविठ्ठल का दर्शन करें। वहाँ पर आँखें तथा कान तृप्त होंगे और मन को समाधान प्राप्त होगा। संत-महंतों से भेंट होगी और चंद्रभागा के रेतीले मैदान पर नाचने का आनंद आवेगा। यह क्षेत्र सब तीर्थों का आगार और सब सुखों का भंडार है। मैं कसम खा कर कहता हूँ कि पंढरपुर जाने के बाद जन्म-मरण के फेरा में फँसने का डर ही नहीं है।"

सब इंद्रियों को एकदम आसक्त रखने के कारण ही पंढरपुर मुक्ति पाने का अत्यत सुलभ साधन था। मुक्ति क्या चीज़ है ? जहाँ पर सब सांसारिक दुःखों को भूल कर चित्त एक ही ईश्वर विषय में लीन होता है, उसी अवस्था का नाम मुक्ति है। यह अवस्था सांघिक मनोबल से तथा इंद्रियों को एक ही विषय में विलीन करने से सहज में प्राप्त होती है। इसी लिए श्रीतुकाराम जी ने कहा है, "हम ने तो वाणी की भीत खड़ी कर परब्रह्म को क़ैद कर लिया है। अब किसी श्रम की आवश्यकता नहीं। नाम-रूप की गठरी बाँध कर एक-एक को अलग फेंक दिया है। अब रास्ते में ठहरने का कोई कारण नहीं। उद्धार तो अत्यंत सुलभता से हमारे हाथ आ गया है। एक पंढरपुर की वारी करने के बाद फिर भिन्न-भिन्न कर्मों के आचरण की कुछ ज़रूरत ही नहीं है। कोई तपस्या करे या कोई धूनी रमावे। किसी को आत्म-स्थिति प्राप्त हो या कोई ज्ञान से मिलनेवाली मुक्ति को श्रेष्ठ करे। सच्चे हरिदास इन सब ढंगों की निंदा ही करते हैं। वे इन मार्गों का अवलंब कदापि न करेंगे। सब को छोड़ पंढरपुर के आँगन में प्रेम से नाचना ही वे पसंद करेंगे। क्योंकि अगर लगे हाथ कहीं अभिमान भाग जाता हो तो वह पंढरपुर के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं। दुष्ट से दुष्ट मनुष्य भी यहाँ आकर पसीज उठता है। उस के भी नेत्रों से

प्रेमाश्रु-धाराएँ बहती हैं, और शरीर पर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। यहाँ के 'गोपालकाला' के प्रसाद में भेदभाव ढूँढ़ने को भी नहीं बचता। पंढरपुर आने पर फिर न तो कोई इतिहास-पुराण पढ़ने की आवश्यकता है, न न्याय वेदांतादि शास्त्रों के घटपटादि शब्दों के खटपट की। एक हाथ में झाँझ और एक हाथ में पताका लो और श्रीविट्ठल के गुण गाते हुए पंढरपुर को जाओ। बड़े भाग्य से इस मनुष्य-देह को प्राप्ति हुई है। एक बार पंढरपुराधीश्वर विट्ठल का दर्शन करो और चंद्रभागा तीर पर प्रेम से नाचो। फिर देखो तो सही जन्म भर की पीड़ा कैसे नष्ट होती है। जैसे पेड़ के मूल में पानी डालने से सब वृक्ष हरा-भरा होता है उसी प्रकार पंढरी की वारी करने से बाक़ी सब साधन अनायास ही सधते हैं। सब साधनों के इस राजा को वश में करने के बाद फिर उस की प्रजा तो बिना कष्ट किए ही अपने वश होती है। इस लिए अन्य साधनों का अवलंब न कर एक पंढरपुर की वारी करो और मुक्ति को प्राप्त कर लो।"

श्रीतुकाराम जी कभी-कभी बड़े प्रेम में आकर व्याज-स्तुति की रीति से भी श्रीविट्ठल का वर्णन करते हैं। आप कहते हैं" भाइयो, मैं मना करता हूँ। पंढरपुर का भूत बड़ा ज़बरदस्त है। आने-जानेवाले लोगों को यह पछाड़ता है। वहाँ कभी न जाओ। जो एक बार वहाँ गया, वह फिर वहाँ से वापस न आया। तुकाराम स्वयं एक बार जो पंढरपुर को गया है, अब वहाँ से लौट ही नहीं सकता।" और एकाध नमूना देखिये। तुकाराम कहते हैं—" भाइयो चलो। इस पंढरपुर में एक बड़ा बदमाश आया है। उस के हाथों में प्रेम-पाश है। सब दुनिया को वह फँसाता है और अपने पीछे खींचता ले जाता है। हाथ कमर पर रख देखते-देखते अपनी नज़र से लोगों की सुध-बुध भुला देता है। वैकुंठ से पंढरपुर को वह इसी लिये आया है। इस चोर को पुंडलीक ने अपने यहाँ ठहरने को स्थान दिया है। आओ, हम सब चलें और इसे भली-भाँति पकड़ रक्खें।,, यह हुई व्याजोक्ति की बात। सचमुच पंढरपुर की

महिमा बखानते हुए आप इसे वैकुंठ से भी बढ़ कर बताते थे—" वैकुंठ तो केवल वैकुंठ ही है पर पंढरपुर है भू-वैकुंठ अर्थात् एक अक्षर से अधिक है। वैकुंठ की बड़ाई तभी तक है, जब तक पंढरी न देखी हो। पंढरपुर में तो मोक्ष सिद्धि घर-घर फेरी लगाती है। कथा-पुराण के समय एक-सा नामघोष होता है। स्त्रियाँ भी पीसतीं, कूटतीं, घर के काम करतीं पांडुरंग के गीत गाती हैं। दुःख खोजता भी कोई पंढरपुर जावे तो उस के हाथ सुख ही सुख लगता है। यहाँ के स्वामी को ज्ञानी पुरुष से भी बढ़ कर भोला-भाला भक्त अधिक प्रिय है। थकावट या घबराहट के बदले यहाँ प्रेम मिलता है और नुकसान उठा कर लाभ पहुँचता है। सब भक्तों का विश्रांति-स्थान श्रीविट्ठल खड़ा-खड़ा भक्तों को पुकार रहा है। हाथों में प्रेम का प्रसाद ले कर भक्तों के मुख में वह देता है और कमर बाँध कर इस भव-सागर से उन्हें पार उतारता है।" ऐसे कृपासिंधु, दीनबंधु, सुखनिधान, भगवान् पंढरपुराधीश्वर पांडुरंग की यात्रा, उस के गुणों का संकीर्तन और उसी का नाम-स्मरण करते-करते श्रीतुकाराम महाराज ने अपना जीवन व्यतीत किया और स्वयं कृतार्थ हो अपने उपदेशामृत से लाखों लोगों को कृतार्थ किया। आज भी उसी अभंगवाणी का रसभरा अमृतपान कर लोग कृतार्थ होते हैं और आगे भी होते रहेंगे।

पंचदश परिच्छेद : तुकाराम जी की हिंदी कविता

मराठी भाषा बोलनेवाले तथा लिखनेवाले सभी कवियों ने प्रायः हिंदी में थोड़ी बहुत रचना कर हिंदी को अपनाया है। सब से पहिले जिस स्त्री-कवि ने हिंदी कविता किया, या यों कहना अधिक उचित होगा कि जिस स्त्री-कवि की सब से प्राचीन कविता उपलब्ध है, वह महाराष्ट्र-संत ज्ञानेश्वर की बहिन मुक्ताबाई है। निवृत्ति, ज्ञानेश्वर प्रभृति भाई जो महाराष्ट्र भागवत संप्रदाय के आद्य प्रवर्तक समझे जाते हैं, वे तो महात्मा गोरखनाथ की ही शिष्य-परंपरा के थे। वे हिंदी से परिचित थे और उन की रची थोड़ी-बहुत हिंदी कविता पाई भी जाती है। नामदेव ने तो हिंदी में अनेक पद बनाए, जिन में से कई सिक्ख लोगों के ग्रंथ-साहब में समाविष्ट हैं। नामदेव जी के समकालीन अनेक महाराष्ट्र संत थे। उन में से हर एक की थोड़ी-बहुत हिंदी-कविता उपलब्ध है। नामदेव जी के पश्चात् तो मुसलमानों का महाराष्ट्र में खूब ही दौर-दौरा रहा है। अर्थात् हिंदी से लोग अधिकाधिक परिचित होते रहे। मुसलमानों की फ़ौज में हिंदी बोलने वाले ही प्रायः रहते थे, जिस के कारण जहाँ-जहाँ ये फ़ौजें जातीं और उन का लश्कर महीनों पड़ा रहता, वहाँ वहाँ हिंदुस्तानी भाषा की भी बोल-चाल अधिक प्रमाण में होती। इस के बाद तो मुसलमानों के राज्य ही महाराष्ट्र में थे। अर्थात् हिंदुस्तानी को राजभाषा का ही महत्व प्राप्त था। इन सब कारणों से हर एक कवि जो यह चाहता था कि 'मेरी कविता महाराष्ट्र के बाहर भी समझी जावे और महाराष्ट्र के भी सभी लोग समझें', वह हिंदी में अवश्य कुछ लिखता। श्रीतुकाराम जी भी इस सामान्य-नियम के अपवाद न थे। उन की भी थोड़ी-बहुत हिंदी-कविता उपलब्ध है। आप की कविता पर सामान्य विचार गत-परिच्छेदों में हो चुका है। पर जब तक कि आप की हिंदी कविता का विचार न किया जावे, तब तक यह विचार

अधूरा ही रह जावेगा। फिर भी हिंदी-भाषा में लिखे हुए इस ग्रंथ में तो वह विचार न करना अपरिहार्य ही था। इसी हेतु इस अंतिम परिच्छेद में श्रीतुकाराम महाराज की हिंदी कविता पर विचार करना है।

सब से पहले श्रीतुकाराम जी ने कृष्ण-लीला पर अभंग रचे। श्रीकृष्ण जी के बाल-चरित्र में उन का गोपालों के साथ खेलना तथा गोपियों के साथ क्रीड़ा करना प्रसिद्ध ही है। सभी भगवद्भक्त और विशेषतः भागवत-संप्रदाय के भगवद्भक्त गोपियों के प्रेम की स्तुति करते हैं। महाराष्ट्र भागवत संतों की भी बहुत-सी कविता इस गोपी-प्रेम से भरी है। यह सब कविता वारकरी-परंपरा में 'गवालन' नाम से प्रसिद्ध है। हर एक महाराष्ट्र संत की 'गवालन' शीर्षक कविता भजनी लोग गाया करते हैं। इस कविता में प्रायः गोपियों की उक्तियाँ रहती हैं। तुकाराम जी के 'गवालन' शीर्षक तीन अभंग हैं, जो नीचे लिखे जाते हैं।

(१)

मैं भूली घर जानी बाट।
गोरस बेचन आयें हाट ॥ १ ॥
कान्हा रे मन मोहन लाल।
सब ही बिसरूँ देखें गोपाल ॥ २ ॥
कांहां पग डारूँ देख आनेरा।
देखें तो सब वोहिन घेरा ॥ ३ ॥
हुं तो थकित भैर तुका।
भागा रे सब मन का धोका ॥ ४ ॥

(२)

हरि बिन रहिया न जाए जिहिरा।
कब की थाड़ी देखें राहा ॥ १ ॥
क्या मेरे लाल कवन चुकी भई।
क्या मोहिपासिती बेर लगाई ॥ २ ॥

कोई सखी हरि जावे बुलवान।
वारहि डारूँ उस पर ये तन ॥ ३ ॥
तुका प्रभु कब देख पाऊँ।
पासी आऊँ फेर न जाऊँ ॥ ४ ॥

(३)

भलो नंद जी को डिकरो।
लाज राखी लीन हमारो ॥ १ ॥
आगल आवे देव जी कान्हा।
मैं घर छोड़ी आये न्हाना ॥ २ ॥
उन सुं कहना न व्हेतो भला।
खसम अहंकार दादुला ॥ ३ ॥
तुका प्रभु परबल हरी।
छूपी आयें हुं जगाथी न्यारी ॥ ४ ॥

इन से श्रीतुकाराम महाराज की हिंदी की थोड़ी-बहुत कल्पना हो सकती है। इस हिंदी पर मराठी तथा गुजराती की छाप साफ़-साफ़ नजर आती है। घर जानी का अर्थ घर जानेवाली है। महाराष्ट्र में एक कहावत प्रचलित है—'मनमानी घरजानी,' जिस से यह शब्द-प्रचार लिया हुआ है। वाट शब्द मराठी है। इस का अर्थ है राह। तुकारामजी की कविता में क्रियाओं के एकारांत रूप कई बार आते हैं। जैसे आवें, देखें इत्यादि। कभी-कभी इन का अर्थ आया हूँ, देखती हूँ, होता है। तो कभी-कभी आऊँ, देखूँ, इत्यादि अर्थों में भी ये रूप प्रयुक्त होते हैं। पहली गवालन की तीसरी कविता में जो 'अनेरा' शब्द है, वह 'अँधेरा' का अपभ्रष्ट रूप है। 'हिन' प्रत्यय तृतीया विभक्ति का द्योतक है और प्रायः ये, वो इत्यादि मूलरूपों में ही लगाया जाता है, 'हूं' 'हीं' की जगह अर्थात् उत्तम पुरुष एकवचनी सर्वनाम का रूप है और 'र' संबोधनार्थक है। कबीरदास जी का एक पद हिंदी भक्तों में प्रचलित है 'तेरा मेरा जियरा,। इसी से 'जियरा' शब्द लेकर उस का मुतरूप 'जिहिरा'

प्रयुक्त किया है। दूसरी गवालन के अंत्यपद में 'पाऊँ' शब्द 'पाँव' का रूप है। पासी का अर्थ है पास। तीसरी गवालन पर गुजराती छाप साफ़-साफ़ नज़र आती है। नरसी मेहता के-से गुजराती भक्त-कवियों के कवित्त महाराष्ट्र भर में प्रचलित थे जिन का यह प्रभाव है। डीकरो अर्थात् बालक, आगल अर्थात् पहले, न्हाना अर्थात् बच्चा ये गुजराती शब्द साफ़ ही हैं। 'कलना' यह समझने के अर्थ की मराठी क्रिया है। दादुला शब्द भी मराठी है जिस का अर्थ है पति। परबल का अर्थ प्रबल स्पष्ट ही है। तुकाराम जी की भाषा में और भी एक विशेषता पाई जाती है। मराठी में शब्दों को विभक्ति-प्रत्यय लगाने के पूर्व एक विशिष्ट रूप दिया जाता है, जिसे सामान्यरूप कहते हैं। इस में अंत्य ह्रस्व स्वर दीर्घ किया जाता है। हिंदी विभक्ति-प्रत्यय लगाने के पूर्व कभी-कभी तुकाराम जी की भाषा में यह रूप पाया जाता है। जैसे जगाथी अर्थात् जग से। यह गुजराती-मराठी का मिश्र प्रभाव है। इसी तीसरी गवालन में अहंकार पर जो पती का रूपक रचा है उस से यह कल्पना हो सकती है कि तत्कालीन भागवत लोग गोपीकृष्ण-भक्ति की ओर किस दृष्टि से देखते थे। सास, पति, देवर इत्यादि मनोभाव तथा वासनाओं के वश में रहनेवाली मनुष्य की चित्तवृत्ति गोपी है। जब एक बार इसे हरि चरणों का प्रेम तथा समागम प्राप्त होता है, तो फिर वह न उसे छोड़ना चाहती है, न उन के वश में रहने की इच्छा करती है। वह फिर इन सबों को तुच्छ मानने लगती है। ज़रा मौक़ा मिला कि भागी वह श्रीकृष्ण जी से मिलने के लिए और वहाँ पर रममाण होने के लिए। भागवतों के गवालन शीर्षक सब कविताओं का सार यही है। केवल भिन्न-भिन्न रूपकों में वह दिखलाया जाता है।

श्रीतुकाराम जी के समय में महाराष्ट्र देश में मुसलमानी पंथ के कई संप्रदाय थे। ये भिन्न प्रकार के पंथ अपनी-अपनी विशिष्ट रीति से लोगों को तंग करते थे। इन लोगों को ध्यान में रख कर तुकाराम जी ने अपनी फुटकर कविताओं में कुछ हिंदी अभंग लिखे हैं। हिंदू-धर्म के

संप्रदाय तथा पंथों के लोगों पर फटकार उड़ाने के लिए जैसे मराठी में कविता की, उसी प्रकार इन मुसलमानी पंथों पर कोड़े लगाने के लिए ये कविताएँ लिखी गई हैं। इन पंथों में से एक का नाम 'दरवेश' था। घर-घर अल्ला के नाम से फेरी करते हुए ये लोग भीख माँगते थे। तुकाराम जी का 'दरवेश' अभंग यों है।

अल्ला करे सो होय बाबा, करतार का सिरताज।
गाऊ बछरे तिसे चलावे, यारी बाघोन सात ॥१॥
ख्याल मेरा साहेब का बाबा, हुआ करतार।
व्हांतें आए चढ़े पीठ, आए हुआ असवार ॥२॥
जिकिर करो अल्ला की बाबा, सबल्यां अंदर भेस।
कहे तुका जो नर बुझे, सोहि भया दरवेस ॥३॥

इस अभंग में अल्ला अर्थात् परमेश्वर की पहले शक्ति दिखलाई है। वह सब कर्त्ताओं में श्रेष्ठ है। ऐसा कि गाय, बछड़े इत्यादिकों की भी बाघ के साथ दोस्ती चलाता है। बाघोन अर्थात बाघों के और तिसे अर्थात तिन से। मेरे ईश्वर की भक्ति ऐसी प्रभाव-शालिनी है कि वह ऊपर लिखी हुई यारी (दोस्ती) पर ही नहीं ठहरती तो वहाँ से आगे पीठ पर चढ़ स्वयं ही सवार होती है। बाबा, उस अल्ला की बात करो, जिस ने सबों के अंदर भेख लिया है, अर्थात् जो सभी बाह्य आकारों के अंतर्गत है। जो इस बात को जानता है वही दर असल दरवेस है। घट-घट में भरे हुए ईश्वर की बातें कैसी खूबी के साथ दिखलाई हैं।

एक दूसरे प्रकार के फ़कीर 'मलंग' थे। ये कपड़ा बिछा कर लोगों के घर जा कर बैठते और अपने पास के पाँसे फेंक कर उन दाँवों से लोगों का भविष्य बतलाते। आँखें मिचा-मिचा कर लोगों को अपना कहना समझाते और उन्हें ठगते। ऐसे लोगों की आँखें खोलने के लिए तुकाराम जी कहते हैं।—

नज़र करे सोहि जिंके बाबा, दुरथी तमासा देख।
लकड़ी फाँसा ले कर बैठा, आगले ठकण भेख ॥१॥
काहे भूल एक देखत। आँखों मारत ढंग बाज़ार ॥२॥
दमरी चमरी जो नर भुला। सो त आधो हि लत खाय ॥३॥
नहिं बुलावत किसे बाबा, आपहि मत जाय।
कहे तुका उस आसके संग, फिर-फिर गोते खाय ॥४॥

इस अभंग में 'जिंकना' यह मराठी क्रिया 'जीतना' अर्थ में आई है। दुरथी अर्थात् दूर से और ठकण अर्थात् ठगने को। दमरी चमरी की जोड़ी कनक-कामिनी के अर्थ में प्रयुक्त है और इस जोड़ी की पकड़ में फँसा पुरुष आगे लातें ही खाता है। अगर कोई न बुलावे तो खुद हो कर वहाँ न जाना चाहिए। नहीं तो इस आशा के संग में बार-बार गोते ही खाने पड़ेंगे।

तुकाराम जी के एक हिंदी अभंग का नाम है, 'डोईफोड़ा' अर्थात् 'सिरफोड़ा'। वह है:—

तन भंज्याय ते बुरा, जिकीर ते करे।
सीर काटे ऊर कुटे, ताहाँ सब डरे ॥ १ ॥
ताहाँ एक तुही, ताहाँ एक तुही।
ताहाँ एक तुही रे, बाबा हम तुम नहीं ॥ २ ॥
दिदार देखो, भूले नहीं, किस पछाने कोये।
सचा नहीं पकड़ सके, झूठा झूठे रोए ॥ ३ ॥
किसे कहे मेरा किन्हो, संत लिया मास।
नहीं मेलो मिले जीवना, झूठा किया नास ॥ ४ ॥
सुनो भाई कैसा तोही, होय तैसा होय।
बाट खाना अल्ला कहना, एक बार तो होय ॥ ५ ॥
भला लिया भेख मुंडे, अपना नफ़ा देख।
कहे तुका सो ही सखा, हाक अल्ला एक ॥ ६ ॥

ये सिरफोड़ अपने शरीर को (तन को) अनेक प्रकार से कष्ट देते (भंजाते) थे। जहाँ-कहीं भीख माँगने जाते, सिर फोड़ते, छाती पीटते और इस प्रकार लोगों को तंग कर डराते और भीख देने के लिए मजबूर करते। तुकाराम जी कहते हैं कि ये लोग मुंह से तो 'अल्ला तुही रे' 'अल्ला तुही रे' कहते हैं; पर यहाँ क्या सभी जगह परमेश्वर ही भरा है, हम तुम यह द्वैत नहीं है। अर्थात् कबीरदासजी की भाषा में कहना हो तो 'भेद नहीं अभेद हुआ है, राम भरा जग सारा।' सच्चे दिलदार आदमी को पहचानो। अगर उसे नहीं पहचाना और पकड़ा तो यह सब सिर फोड़ना, रोना, छाती कूटना व्यर्थ ही है। 'मेरा काम करो' यह किसे कहें! जिधर-तिधर संतों का केवल आभास होता है। मेरे जीवन से तो मिलाए भी किसी का जीवन नहीं मिलता। व्यर्थ सर्वनाश हो रहा है। अब जो होना होगा वह मज़े से हो, जो कुछ मिले, वह बाँट खाना चाहिए और अल्ला का नाम लेना चाहिए। जो कोई अल्ला के नाम से पुकारता है, वही मेरा दोस्त है; बाक़ी सब लोगों ने अपने स्वार्थ के लिए सिर मुड़ा कर भेख बना लिया है।

एक और प्रकार के ठग लोग उन दिनों महाराष्ट्र में थे। ये अपने को हकीम या वैद कहते और अपनी दवा दारू की गोलियाँ दे कर लोगों को फँसाते। इन पर भी तुकाराम जी की एक कविता 'वैदगोली' नाम की है। उस के आरंभ में ही आप कहते हैं।

अल्ला देवे अल्ला दिलावे। अल्ला दारू, अल्ला खिलावे।
अल्ला बिगर नहि कोय। अल्ला करे सोई होय ॥१॥

अब आप अपने ख़ुद को वैद समझ कर अपनी गोली लेने वाले को कहते हैं।—

मर्द होवे वो खड़ा फिर। नामर्द कूं नहीं धीर।
आप ने दिलकूं करना खुशी। तिन दाम की क्या खुमासी ॥२॥

जिसे अपने दिल को ख़ुश करना है, उसे पैसे की ख़ुमारी

अर्थात् परवाह है ? अब आप की बनाई हुई गोलियों की भी थोड़ी तारीफ़ सुनिए—

सब रसों का किया मार । भजन गोली एकहि सार ।
ईमान तो सबहीं सखा । थोड़ी तो भी ले कर खा ॥३॥

यही गोली जो ठीक समय पर नहीं खाता उस की फ़ज़ीहत होती है । इस का वर्णन करते समय तुकाराम जी अपने स्वभावानुसार जैसा कि हम पीछे कह आए हैं, ग्राम्य-भाषा का प्रयोग करते हैं । आप कहते हैं ।—

सब जवानी निकल जावे । पीछे गधड़ा मट्टी खावे ।
गाँव ढाल सो क्या लेवे । हगवनी भरी नहीं धोए ॥४॥

गधड़ा, गाँव ढाल, हगवनी तीनों मराठी शब्द हैं । इन के अर्थ अनुक्रम से हैं गधा, वेवकूफ़, लतियल, तथा अपनी ही विष्टा से भरे हुए कपड़े । हैरानी से आप कहते हैं कि जवानी में ही ये दवा खानी चाहिए ।

मेरी दारू जिन्हें खाया । दिदार दरगा सो ही पाया ।
तल्हे मुंढी घाले जावे । बिगारी सोवें क्या लेवे ॥५॥

जिस ने ये दारू खाई वही 'दिलदार दरगा' अर्थात् ईश्वर का स्थान पा सकता है और जो बेगारी तल्हे यानी नीचे सिर कर सो रहता है, वह क्या लाभ ले सकता है ? इस दारू की कुछ क़ीमत नहीं । तुकाराम जी कहते हैं ।—

बजार का बूझे भाव । वोहि पुसता आवे ठाव ।
फुकट बाँटूँ कहे तुका । लेवे सोहि लें सखा ॥

बाजार भाव जो समझता है वही मकान पर पूछता हुआ आ पहुँचता है । पर तुकाराम जी कहते हैं कि मैं तो मुफ़्त बाँट रहा हूँ, जो कोई इसे ले वही मेरा मित्र है ।

'मुंढा' नाम के और भी एक प्रकार के मुसलमान फ़क़ीर उस समय महाराष्ट्र में फैले थे । हाथ में एकतारा और झाँझ ले कर ये

भजन करते, नाचते, उड़ते, एक दूसरों को चपतें लगाते और नशे के ज़ोर चिल्ला-चिल्ला-कर भीख माँगते। इन पर तुकाराम जी के तीन अभंग हैं।

(१)

सँभाल यारा ऊपर तले दोनों मार की चोट।
नज़र करे सोहि राखे पस्वा[१] जावे लूट॥ १॥
प्यार खुदाई[२] प्यार खुदाई, प्यार खुदाई।
प्यार खुदाई रे बाबा, जिकीर खुदाई॥ २॥
उड़े कुड़े[३] ढुंग[४] नचावे, आगल भूलन प्यार।
लड़बड़ खड़बड़ कहे कांकूं[५], चलावत मार॥ ३॥
कहे तुका सुनो लोका, हम जिन्हों के सात।
मिलावे तो उसे देना, दोहीं चढ़ावे हात॥ ४॥

(२)

मन सँभाल म्याने लौंडे, खड़ा केऊं[६] गुंग।
मदिरथी[७] मता हुआ, भुली पाही भंग॥ १॥
आपसकुं संभाल आपसकुं संभाल, मुंडे सूब राख ताल।
मुथि[८] सोहि बोल नहीं तो, करूँगा मैं हाल॥ २॥

---

[१] पस्वा = पशु, मूर्ख।
[२] खुदाई = ईश्वर का।
[३] कुडे = कूदे।
[४] ढुंग = कूला।
[५] कांकूं = ना, ना, करना।
[६] केऊं = क्यों।
[७] मदिरथी मता = शराब से मस्त।
[८] मुथी = मुँह से।

आवल का तो पीछे नहीं, मुदल विसर[1] जाय।
फिरते नहीं लाज रंडी, गधे गोते खाय ॥ ३ ॥
जिन्हों खातर इतना होता, सो नहीं तुज बेकाम।
ऊँचा जोरो[2] लिया तुंबा, तुंबा बुरा काम ॥ ४ ॥
निकल जावे चि[3] कलजोरा, मुंढे दिदारी।
जवानी की छोड़ दे बात, फिर एकतारी ॥ ५ ॥
कहे तुका फिसला रुका, मेरे को तो दान देख।
पकडधका गांड[4] गुडघी, मार चालाऊँ आलेख ॥ ६ ॥

(३)

आवल नाम अल्ला बड़ा, लेते भूल ना जाये।
इलाम[5] त्या कालज उपर, तोहि तुंब बजाये ॥ १ ॥
अल्ला एक तूं, नबी एक तूं
काटते सिर पाँवों हात नहीं जीव डराए।
आगले देखो, पीछे बूझो, आपे हुज़ूर आए ॥ २ ॥
सब सबरी[6] नचाव म्याने, खड़ा अपने सात।
हात पाँवो रखते जबाब, नहीं आगली बात ॥ ३ ॥
सुनो भाई बजार नहीं, सबहि नर चलावे।
नन्हा बडा नहीं कोये, एक ठौर मिलावे ॥ ४ ॥
एकतार[7] नहीं प्यार, जीवन की आस।
कहे तुका सोहि मुंढा, राख लिया पाँएन पास ॥ ५ ॥
बलिहारी उस मुख की, जिस ते निकसे राम ॥ ६ ॥

---

१ बिसर = भूल।
२ जोरो = ज़ोर से।
३ चि = ही (निश्चय-बोधक)।
४ गांड गुड घी = पीछे से कूले पर घुटना जोर से मारना।
५ अगर उस (कालज) हृदय के ऊपर (इलाम) विश्वास हो तोहि तंबूरा या एकभारी बजाओ।
६ सबरी = सबों की।
७ जीवित की आशा यदि एकतारी पर नहीं तो (ईश्वर के) प्यार पर हो, वोही मुंढा ईश्वर अपने चरणों के पास रखता है।

कबीरदास जी के दोहरे भी तुकाराम जी के समय में महाराष्ट्र में भली-भाँति प्रचलित थे। इन्हीं दोहरों का अनुकरण कर तुकाराम जी ने भी कुछ दोहरे बनाए। हिंदी दोहरों की दृष्टि से इन में छंदोभंग तो पद-पद पर है। पर तुकाराम जी की अभंग कविता को किसी भंग का डर ही न था। इन दोहरों का भी आस्वाद लीजिए।

तुका बस्तर[1] बिचारा क्या करे, अंतर भगवान होय।
भीतर मैला कब मिटे रे मन, मरे ऊपर धोय॥ १॥
राम राम कह रे मन, और सुं नहिं काज।
बहुत उतारे पार आगे, राखि तुका की लाज॥ २॥
लोभी के चित धन बैठे, कामिनि के चित काम।
माता के चित पूत बैठे, तुका के मन राम॥ ३॥
तुका राम बहु मीठा रे, भर राखूं शरीर।
तन की करूं नाव री, उतारूँ पैल तीर॥ ४॥
संतन पन्इयां ले खडा, रहूँ ठाकुरद्वार।
चलता पाछे हूँ फिरो, रज उडत लेउं सिर॥ ५॥
तुका बड़ो न मानूं, जिस पास बहु दाम।
बलिहारी उस मुख की, जिस ते निकसे राम॥ ६॥
राम कहे सो मुख भला रे, खाए खीर खांड।
हरि बिन मुख में धूलपरी, क्या जनी उस रांड॥ ७॥
राम कहे सो मुख भला रे, बिन राम से बीख[2]।
आब न जानूं रमते बेरा[3], जब काल लगावे सीख॥ ८॥

---

[1] ग़रीब। [2] ज़हर, विष। [3] समय।

कहे तुका तु सबदा वेचूं, लेवे केतन[१] हार।
मीठा साधु संत जन रे, मूरख के सिर मार ॥ ९ ॥
तुका दास तिनकारे, राम भजन नित आस।
क्या बिचारे पंडित करो रे, हात पसारे आस ॥१०॥
तुका प्रीत रामसुं, तैसी मीठी राख।
पतंग जाय दीप परेरे, करे तन की खाक ॥११॥
कहे तुका जग भुला रे, कह्या न मानत कोय।
हात परे जब काल के, मारत फोरत डोय[२] ॥१२॥
तुका सुरा[३] नहिं शबद का,[४] जहाँ कमाई न होय।
चोट सहे घनकीरे, हिरा नीवरे[५] तोय ॥१३॥
तुका सुरा बहुत कहावे, लडन बिरला कोय।
एक पावे ऊँच पदवी,[६] एक खौसा[७] जोय ॥१४॥
तुका मारूया पेट का, और न जाने कोय।
जपता कछु राम नाम, हरि भगत की सोय ॥१५॥
तुका सज्जन तिनसुं कहिए, जिनथी प्रेम दुनाय[८]।
दुर्जन तेरा मुख काला, थीता[९] प्रेम घटाय ॥१६॥
फाफर सोही आप न बुझे, आला दुनिया भर।
कहे तुका सुनो रे भाई, हिरदा जिन्ह का कठोर ॥१७॥
भीस्त[१०] न पावे मालथी, पढ़िया लोक रिझाय।
नीचा जेथे कमतरीन, सोही सो फल खाय ॥१८॥
फल पाया तो सुख भया, किन्हसुं न करे विवाद।
बान न देखे मिरगा,[११] चित्त मिलाया नाद ॥१९॥

---

[१]कितने। [२]सिर। [३]शूर। [४]शब्दों का। [५]पहिचाना जाता है। [६]स्थान। [७]नीचे। [८]दूना होता है। [९]वर्त्तमान। [१०]स्वर्ग, ईश्वर-पद। [११]हिरन।

तुकादास राम का, मन में एकहि भाव ।
तो न पालट्‌ आवे, येही तन जाय ॥२०॥
तुका रामछूं चित बाँध राखूं, तैसा आपनी हात ।
धेनु वछरा छोर जावे, प्रेम न छूटे सात ॥२१॥
चित सुं चित जब मिले, तब तन थंडा होय ।
तुका मिलना जिन्द सुं, ऐसा बिरला कोय ॥२२॥
चित्त मिले तो सब मिले, नहिं तो फुकट[1] संग ।
पानी पथर एक ही ठोर, कोर न भीजे अंग ॥२३॥
तुका संगत तिन से कहिए, जिन से सुख दुनाए ।
दुर्जन तेरा मू काला, थीतो प्रेम घटाए[2] ॥२४॥
तुका मिलना तो भला, मन सूं मन मिल जाय ।
उपर उपर माटी घासनी, उन की को न बराय ॥२५॥
तुका कुटुम छोरे रे लड़के[3], जोरो सिर मुंडाय ।
जब ते इच्छा नहिं मुई, तब तूं किया काय ॥२६॥
तुका इच्छा मीट नहिं तो, काहा करे जटा खाक ।
मथींया[4] गोला डार दिया तो, नहिं मिले फेर न ताक[5] ॥२७॥
ग्रांद मेरे साइयां को, तुका चलावे पास ।
सुरा सोहि लरे हम से, छोरे तन की आस ॥२८॥
कहे तुका भला भया, हुआ संतन का दास ।
क्या जानूं केते मरता, न मिटती मन की आस ॥२९॥
तुका और मिठाई क्या करूं, पाले विकार पिंड ।
राम कहावे सो भली रूखी, माखन खीर खांड ॥३०॥

इस पूर्वोक्त रचना के सिवा श्रीतुकाराम जी ने कुछ पद भी हिंदी भाषा में लिखे हैं । पर इन के विषय में सब विद्वानों का एक मत नहीं

---

[1] व्यर्थ [2] दोहरा नं० १६ देखो । केवल एक शब्द का फ़र्क़ है । [3] लड़के । [4] मक्खन का मथा हुआ । [5] छाछ ।

है। कुछ-कुछ अभंग संग्रहों में न मिलने के कारण कुछ विद्वान् इन्हें क्षेपक मानते हैं। हिंदी की रचना थोड़ी ही होने के कारण इस बात का निर्णय करना कठिन है कि ये तुकाराम जी के ही रचे हुए हैं या अन्य किसी के। पर बहुत संभव है कि ये तुकाराम जी के ही होंगे। नमूने के लिए कुछ पद नीचे दिए जाते हैं।

(१)

क्या गाऊं कोई सुननेवाला। देखें तो सब ही जग भूला ॥१॥
खेलों अपने रामहिं सात। जैसी वैसी करिहों मात ॥२॥
काहां से लाऊं मधुरा बानी। रीझे ऐसी लोक बिरानी ॥३॥
गिरिधरलाल तो भाव का भूका। राग कला नहिं जानत तुका ॥४॥

(२)

आपें तरे त्याकी कोन बराई। औरन कूं भलो नाम धराई ॥१॥
काहे भूमि इतना भार राखे। दुहत धेनु नहिं दूधहि चाखे ॥२॥
बरसते मेघ फलते हि बिरखा। कोन काम आपनी उन्होति राखा ॥३॥
काहे चंदा सूरज खावे फेरा। खिन एक बैठत पावत बेरा ॥४॥
काहे परिस कंचन करे धातु। नहि मोल लूटत पावत घातु ॥५॥
कहे तुका उपकारहि काज। सब कर रहिया रघुराज ॥६॥

(३)

बार-बार काहे मरत अभागी। बहुरि मरन से क्या तोरे भागी ॥१॥
एहि तन कर ते क्या ना होय। भजन भगति करे बैकुंठ जाय ॥२॥
राम नाम मोल नहि वेचे कवरी। वोहि सब माया छुरावत सगरी ॥३॥
कहे तुका मन सुं मिल राखो। राम रस जिन्हा नित चाखो ॥४॥

इन पूर्वोक्त सब उदाहरणों से तुकाराम जी की हिंदी कविता का अनुमान पाठक-गण भली-भाँति कर सकते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्य-दृष्टि से इस में देखने योग्य विशेष कुछ नहीं है। इस से केवल इसी का अनुमान हो सकता है कि सत्रहवीं शताब्दी में महाराष्ट्रीय संत हिंदी को अपनाने लगे थे। यदि यही क्रम

चलता रहता और दूसरी ही एक भाषा का भारतवर्ष की भाषाओं पर आक्रमण न होता, तो आज हिंदुस्तानी अखिल भारतवर्ष की भाषा हो जाती। पर काल के मन में कुछ और ही था। उस के हेर-फेर से थोड़े दिन अधिक लगे। पर अब सब विज्ञ भारतवासियों ने इस बात को मान लिया है कि सारा हिंदुस्तान यदि किसी एक भाषा में अपने विचार प्रकट कर सकता है, तो केवल हिंदुस्तानी ही इस बात के योग्य है। ईश्वर की कृपा से वे भी दिन अब जल्दी पास आ रहे हैं और जिस माला का यह एक फूल है, वह भी इसी बात का द्योतक है। यदि किसी प्रांत के लोग अपने-अपने प्रांतीय विद्वान्, शूर, संत पुरुषों का परिचय भारत भर में कराना चाहें, तो केवल इस हिंदुस्तानी भाषा के द्वारा ही यह बात संभाव्य है, अन्यथा नहीं।
